श्रीदक्षिणामूर्त्तये नमः

# शिवसङ्कल्पसूक्त




श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यमहामण्डलेश्वर

**श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज**

के व्याख्यान

प्रकाशक

**श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन**

वाराणसी



श्रीदक्षिणामूर्त्तये नमः

# शिवसङ्कल्पसूक्त




श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यमहामण्डलेश्वर

श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज

के व्याख्यान

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन

वाराणसी

श्रीविष्णुदास मेहता, ओयल द्वारा निःशुल्क वितरित

संवत् २०६९ कार्तिक कृष्ण २, ३१.१०.१२

-: प्रकाशक :-
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ प्रकाशन
डी. ४९/९, मिश्रपोखरा
वाराणसी-२२१०१०



भगवत्पादाब्द : १२२४
विक्रमाब्द : २०६९
खीष्टाब्द : २०१२







मूल्य : श्रद्धासुमन



अक्षर टंकण
श्रीजी प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी
ई-मेल : shrijeeprint@gmail.com



मुद्रक
सौरभ प्रिन्टर्स प्रा0 लि0

ॐ

# प्रकाशकीय

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य **श्री स्वामी महेशानन्द गिरिजी महाराज** आचार्य महामण्डलेश्वर के दिल्ली स्थित श्रीविश्वनाथ संन्यास आश्रम में प्राय: पचास वर्षों तक निरन्तर अमृतमय प्रवचन गुंजायमान रहे। प्रारम्भिक काल में, बिना आशुलिपि के भी, पण्डित श्री भगीरथ पाण्डेय महाराजश्री के अतितीव्र गति में व्यक्त प्रवचनों को सुनते हुए प्राय: शब्दश: स्पष्ट लिख लेते थे जिनके कारण साधनसंग्राम आदि अनेक संग्रह प्रकाशित हुए। रुद्राष्टाध्यायी के मन्त्रों के अर्थ समझाने के लिये महाराज जी ने सन् १९६९ में **शिवसङ्कल्पसूक्त** पर प्रवचन दिये। तदनन्तर पुरुषसूक्त एवं नमकाध्याय के कुछ मन्त्रों पर प्रवचन हुए जो **'पुरुषसूक्त'** तथा **'रुद्र'** नामक विशालकाय संकलनों में प्रकाशित हैं। **शिवसङ्कल्पसूक्त** के दिनांक ०८.०९.६९ से ३०.०९.६९ तक के प्रवचन पाण्डेय जी के हस्तलेखरूप में सुरक्षित थे जो निकट भूत में ही हस्तगत हुए। श्रीमती इन्दिरा मोहन ने सश्रद्ध परिश्रमपूर्वक उन्हें मुद्रण के लिये उपयोगी रूप में पुनर्लिपिबद्ध किया। अज्ञात कारणों से प्रथम मन्त्र की व्याख्या अनुपलब्ध है। सम्भवत: द्वितीय मन्त्र की व्याख्या का प्रारम्भिक भाग भी छूटा हुआ है। बाकी सारे मन्त्रों का व्याख्यान महाराजश्री जी की समाराधन तिथि पर प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें श्री संजीव कुमार प्रेरक रहे एवं **श्री विष्णुदास मेहता जी** ने पूर्व वर्षों की तरह इस वर्ष भी इस पुस्तक के अमूल्य वितरणार्थ सम्पूर्ण आर्थिक सहयोग प्रदान किया। भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति से प्रार्थना है कि वेदान्त-विज्ञान-सुनिश्चित सम्पन्न करने में महाराज जी के इन प्रवचनों का अध्ययन सहायक बने और इनमें व्यक्त प्रार्थना स्वीकार कर वे सभी साधकों के मन शिवसंकल्प से भर दें। संस्था सद्गुरुचरणारविंद में पुस्तकरूप श्रद्धासुमन अर्पित करती है।

# विषय-सूची


| | |
|---|---|
| प्रवचन प्रथम | १ |
| प्रवचन द्वितीय | ७ |
| प्रवचन तृतीय | १४ |
| प्रवचन चतुर्थ | १८ |
| प्रवचन पञ्चम | २३ |
| प्रवचन षष्ठ | २८ |
| प्रवचन सप्तम | ३२ |
| प्रवचन अष्टम | ३८ |
| प्रवचन नवम | ४३ |
| प्रवचन दशम | ४८ |
| प्रवचन एकादश | ५२ |
| प्रवचन द्वादश | ५७ |
| प्रवचन त्रयोदश | ६३ |
| प्रवचन चतुर्दश | ६९ |
| प्रवचन पञ्चदश | ७५ |
| प्रवचन षोडश | ८१ |
| प्रवचन सप्तदश | ८७ |

| | |
|---|---|
| प्रवचन अष्टादश | ९६ |
| प्रवचन एकोनविंश | १०० |
| प्रवचन विंश | १०६ |
| प्रवचन एकविंश | १११ |
| प्रवचन द्वाविंश | ११८ |
| प्रवचन त्रयोविंश | १२३ |

॥ ॐ ॥

# शिवसङ्कल्पसूक्त

## प्रवचन प्रथम (०८.०९.१९६९)

**ॐ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।**
**यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥**
(यजु. ३४.२)

[ *परमात्मरहस्यों के जानकार कर्मसम्पादक मनीषी जिस परमेश्वरबल से जीवनयज्ञ में सभी कर्म करते हैं, जो अपूर्व (नया) यक्ष (पूज्य) सब प्रजाओं में है वह मेरा मन शिवसङ्कल्प से भर दे।* ]

जिसने जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति का विचार करके इन सबमें एक जैसा रहने वाले देव का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह अपनी क्रियाओं से उसे प्रकट करता है। वे क्रियायें उसमें साध्यरूप से नहीं रहतीं, स्वभाव से रहती हैं। इस स्वभाव को बताने के लिये अपसः (अपस्विनः) कहा। उसका स्वभाव ही 'अद्वेष्टादि' से गीता में बताया है। 'अव्यक्त' ब्रह्म की उपासना इसलिये क्लेशदायक नहीं कि उसके समझने में कठिनाई हो वरन् इसलिये है कि उसके लिये ज़रूरी बुद्धि की तैयारी मुश्किल है। **'सर्वभूतहिते रताः'** (१२.४) के तुरन्त बाद **'क्लेशोधिकतरः'** (१२.५) कहा। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' यह निर्देश बताता है कि बुद्धि सूक्ष्म हो तभी परमात्मा दीखे। परमात्मतत्त्व अनुभव में आता है। बहुत से लोग समझते हैं कि वह अनुभव में कभी नहीं आता। भाष्यकार **'नायमेकान्तेनाविषयः, अस्मात्प्रत्ययविषयत्वात्'** से समझाते हैं कि वह परमशिव तत्त्व सर्वथा हमारे ज्ञान का विषय न बनता हो, ऐसा नहीं। 'मैं'—इस ज्ञान में उसका अनुभव होता है। 'यह'—इस रूप से उसके ज्ञान का श्रुति ने निषेध किया। भिन्नरूप

से उसे नहीं जान सकते, उसका ज्ञान अभिन्नरूप से होता है। एकाग्र बुद्धि जब सूक्ष्म बना ली जाय तब आत्मदर्शन सम्भव है। वह मोटी बुद्धि का विषय नहीं। बुद्धि महाभूतों के सत्त्वगुणांश से बनती है पर हम उसमें रजोगुण-तमोगुण मिलाकर उसे मोटा बना देते हैं।

'अनात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयाऽनया।
पुत्रादारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम्' ॥

अनात्म-पदार्थों में आत्मभावना से बुद्धि स्थूल हो जाती है। हज़ामत बनाने के उस्तरे की धार को लकड़ी छीलने लगा दो तो धार मोटी होगी। सलमा-सितारे टाँकने की सुई से यदि टाट का कपड़ा सिया तो फिर वह बारीक काम के लायक नहीं रहेगी। हज़ार रुपये के रसायन तोलने के तराजू, 'कैमिकल बैलेन्स' में एक माशे के दसवें हिस्से को तोल सकते हो, उसमें आलू तोलने लगे तो किस काम का रहेगा! बुद्धितत्त्व से आत्मभावना करनी थी। उसे अनात्म पदार्थों में लगा दिया—उससे अपनी देह का विचार करने लगे तो वह बुद्धि आत्मज्ञान में अक्षम हो जाती है। सबेरे से शाम तक अनात्म पदार्थों का विचार करते रहे—चोरी करके बिना पकड़े बचने को बुद्धिमत्ता समझते रहे—तो 'धर्म्य' उत्तम पवित्र राजविद्यारूप प्रत्यक्ष अवगम में बुद्धि लगे कैसे!

लाउत्से के पास एक व्यक्ति मिलने गया। वह देखने गया था कि वे कैसे महात्मा हैं। ध्यान से देखा, अनाज कहाँ-कैसे रखते हैं, कैसे कपड़े पहनते हैं, कैसी जगह रहते हैं, कैसे बात करते हैं आदि। शाम को बोला, 'मैं तो आया था यह सुनकर कि आप महात्मा हैं, पर समझ आया कि आप महात्मा नहीं हैं'। वे चुप रहे। रात्रि में उस व्यक्ति को स्वप्न हुआ, देवदूतों ने पूछा 'ज्ञान सीखने गया था कि ज्ञान देने? लाउत्से ने तुम्हें ज्ञान देने बुलाया कब था?' वह दूसरे दिन जा कर माफी माँगने लगा कि—'मैं आपकी परीक्षा करने योग्य नहीं हूँ'। वे बोले 'तू मुझे बैल या गधा भी कहता तो फ़रक नहीं पड़ता। मैंने कोई नकाब नहीं चढ़ा रखा था, जैसा हूँ वैसा तुमने मुझे समझा। यदि और कुछ बन कर अभिनय में असफल रहता तो मुझे दुःख होता'। तब उसने उपदेश माँगा। लाउत्से ने कहा, तुम्हारे सारे चेहरे में नकाब है, तुम

आँखें खोल कर सामने नहीं देखते, तिरछी नज़र से देखते हो। जो विषय समझने आये थे उसकी बजाये दीवालों और अल्मारियों को देखते रहे। जैसे कोई चाहे तो चलना पर स्वयं को रोक कर खड़ा रहे तो व्यर्थ थकान होगी वैसे तुम अपने को ही रोक कर खड़े हो। यदि तुम्हारा यह तनाव दूर हो गया तो तीर की तरह दौड़ोगे। इस तनाव के कारण तुम्हारा चित्त स्थूल हो गया है। जब तक अपने जीवन में स्वाभाविकता नहीं लाओगे, आत्मतत्त्व की तरफ जाना सम्भव नहीं।

इस देह से ऐसा व्यवहार करना चाहते हो कि लोग खुश हों। पुत्र-दारा की इच्छायें पूरी करने में व्यस्त हो। अपना ही मन मारकर रह जाते हो। आज पिता को देख पुत्र नहीं बदलता, पुत्र-पत्नी को देख कर पिता बदलता है। इच्छा है घर में आराम करने की लेकिन पत्नी की प्रसन्नता के लिये सिनेमा देखने जाता है। इस प्रकार जिन कार्यों को स्वभाव से कभी भी नहीं करना चाहता उन्हें पुत्र-दारा-कुटुम्ब के लिये करता है।

'आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतेः।
हेयादेयप्रयत्नेन चेतो गच्छति पीनताम्' ॥

आधि-व्याधि दोनों विलास हैं। हम पूछते हैं 'बुखार क्यों बुलाया था?' लोग हँसकर टाल देते हैं। लेकिन विचार करो, बिना तुम्हारे बुलाये, आत्मतत्त्व के बुलाये बगैर भला रोग आ सकता है? रोग जबरदस्ती आयेगा कैसे? रोग को मैं ही प्रकाशित करूँगा। सांख्य समझते हैं कि प्रकृति स्वतन्त्र सत्य है, आत्मा उसको प्रकाशित करता है। वेदान्त कहता है—प्रकृति सत्य नहीं है, पुरुष उसकी कल्पना करता है। हम आधि-व्याधि को बुलाते हैं। आ अर्थात् समन्तात् धि अर्थात् रखना। मन का पूर्ण विचार से निश्चय कर लेना आधि है। वह और दृढ हो गया, बाहर प्रकट हो गया तो विशेषेण आधि अर्थात् व्याधि बन जाता है। रोग वस्तुतः हमें अच्छा लगता है! मानस विज्ञान कहता है, अनेक रोग कामना से आते हैं किसी परिस्थिति का सामना नहीं करना चाहते तो उसका एक उपाय बीमारी है। हिन्दी में जैसे परेशान करने वाले व्यक्ति को 'सिरदर्द' कह देते हैं ऐसे अंग्रेज़ी में उसे 'गर्दन में दर्द' कहते हैं। दूसरे व्यक्ति से मानसिक तनाव निरन्तर रहे तो गर्दन के आस-पास दर्द

हो भी जाता है। इस तरह, शरीर या मानस रोग हम निमन्त्रण देकर बुलाते हैं। देह-मन का विचार तो रोगी करता है, आत्मा का नहीं, अतः उनके विकारों से विकृत बना रहता है।

जगत्-मिथ्यात्व पर विचार करने के बाद भी संसार की सत्यता में हमें विश्वास बना रहता है। 'व्यवहार तो करना ही है' का एक दृढ बन्धन बाँध रखा है। एक ने मकान बनाया, परनाला पड़ौसी के चौक में जबर्दस्ती निकाल दिया! पंचायत ने कहा कि यह गलत बात है। उसने कहा कि 'पंचों की बात सिर माथे, लेकिन परनाला यहीं गिरेगा'! इसी तरह श्रुति, स्मृति, शिष्टोक्ति, अनुभूति से संसार असत्य निश्चित होता है लेकिन व्यवहार ऐसा करते हैं मानो वही सत्य है। विज्ञान, ज्ञान, दर्शन, वेद से जैसा तुमको दीखता है वैसा संसार सिद्ध नहीं होता। सारी पृथ्वी का ठोस भाग एक क्रिकेट बॉल के बराबर है ऐसा आज से चालीस वर्ष पूर्व वैज्ञानिकों ने कहा। आज उन्हें 'प्रोटॉन', धनाणु में भी पोल मिल रही है! अतः कुल ठोस भाग और छोटा हो गया।

**'हेयादेयप्रयत्नेन'**—यह छोड़ने लायक, यह ग्रहण करने लायक है—ऐसा चिन्तन पदार्थों का किया जाता है। सद्गुणों के आधान या दुर्गुणों के आधान के रूप में भी वस्तुओं का चिन्तन होता है। ब्रह्म में चित्त-रूपी साँप दीख रहा है—

**'दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च।**
**आस्थादानेन चारेण चित्ताऽहिर्याति पीनताम्'** ॥

दुराशाओं का दूध चित्तरूप संसार का पोषक है। **'इदमद्यमया लब्धम् इमं प्राप्स्ये मनोरथम्'** यह दुराशा है। आज मुझे यह मिला, कल यह मिलेगा। इतना तो मेरा है ही, इतना और हो जायेगा—इस प्रकार की आशाएँ अहितकर हैं। **'यक्ष्ये दास्यामि'** मैं इतने यज्ञ-दान करूँगा कि लोग समझें मेरे जैसा कोई नहीं। इस शत्रु को मैं मार चुका, अन्यों को भी समाप्त कर दूँगा। मैं सर्वसमर्थ हूँ, मैं ही संसार का उपभोग करूँ यह उचित है, मुझे कोई साधनाभ्यास नहीं चाहिये, मैं बलवान् और सुखसम्पन्न हूँ। मुझ जैसा और है कौन!—इस प्रकार की दुराशाओं से चित्तरूपी साँप को दूध पिला कर

मोटा बनाते रहते हैं। कल की सत्ता सिद्ध नहीं, उसकी चिन्ता में आज मरे जा रहे हैं। संस्कृत में प्रथम पुस्तक के पहले पृष्ठ पर एक श्लोक आता है। आज तो बी.ए., एम.ए. की पुस्तक में भी वह नहीं है। जीवन में कैसे रहें यह उसमें लिखा है। संस्कृत में तुम्हारे मतलब की बात पहले पढ़ाते हैं—

'अजरामरवत्प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्'॥

पढ़ते समय अपने को अजर-अमर समझो। आज किताब के पन्ने जल्दी-जल्दी पलटते हो मानो अभी मर जाओगे! धन कमाने में भी जल्दबाजी है कि फौरन लाख कमा लूँ। भारत में सटोरिये ज़्यादा हैं, पूँजीवादी नहीं। विद्या और अर्थ के लिये यह दृष्टि रखो कि तुम अजर-अमर हो। विज्ञान के प्रयोग न जाने किसने किये, तीन पीढ़ी बाद प्रयोग का फल निकलता है! सत्य का अन्वेषण स्वयं प्रयोजन है, किसी अन्य फ़ायदे के लिये नहीं। ऐसा व्यक्ति अर्थ कमाता है तो संस्था को ठोस बनाता है क्योंकि जानता है कि वह न जाने कितने साल चलेगी। अंग्रेज़ों में यह दृष्टि उपलब्ध हुई। वे संस्था, भवन, प्रक्रिया आदि मजबूत बनाते थे ताकि दीर्घकाल तक व्यवस्थित रहे। राष्ट्रपति भवन 'वाइस रीजल लॉज' अर्थात् राजा के प्रतिनिधिका ही निवास था, स्वयं राजा के लिये नहीं बना था, फिर भी सुन्दर, मजबूत, विस्तृत बनाया गया। सन् ३३ में उसमें प्रवेश हुआ। सन् ३८ में एसेम्बली वगैरह खत्म हुईं। सन् ४७ में अंग्रेज़ चले भी गये। जब ये भवन बनने शुरू हुए तब तक कई आन्दोलन हो चुके थे पर उन्होंने यह नहीं सोचा कि कब जायेंगे, वरन् यही सोचा कि भवन उचित, स्थायी बने। यह नहीं कि कच्चा-पक्का काम करो। आज हम अपने देश में, जहाँ से हमें कहीं जाना नहीं, कच्चा काम करते हैं! विद्या एक पीढ़ी की चीज़ नहीं, न धन एक व्यक्ति, एक पीढ़ी की चीज़ है। महर्षि वशिष्ठ से लेकर आज तक आचार्यों ने विद्या दी। उसका संग्रथित रूप हमारे पास है, तब हम आज ज्ञान के क्षेत्र में इतनी विकसित दृष्टि रखते हैं। विद्या अजर-अमर है, समग्र मानवता में रहती है। वैज्ञानिक अपने से पूर्व के वैज्ञानिकों के कारण ही नई बात सोच पाता है। वैद्यक तन्त्र नष्ट हो गये क्योंकि हम यह पहला श्लोक भूल गये। 'जो मैंने जाना वह मेरे साथ मरेगा, उसे किसी को बताने वाला नहीं'—इसी

भाव से ज्ञान की थाती डूब जाती है। अर्थप्राप्ति भी किसी एक व्यक्ति की देन नहीं है। तुम्हारे पिताजी दस हज़ार छोड़ गये तब तुमने दस लाख कमाये। आज का व्यक्ति राष्ट्र की दृष्टि से उस चिन्तन को नहीं समझता। आज हम चमड़ा निर्यात करते हैं पर पशु आये कहाँ से? हज़ारों वर्षों से उन्हें बचाया गया, तब वे हैं। ख़त्म करने में देरी नहीं लगती। अंग्रेज़ चार बीघा पेड़ कटवाते थे तो पाँच बीघा लगवाते भी थे। हम कटवाते ही हैं लगाने का काम नहीं करते। जब सामान्य विद्या और धन की यह बात है तब आत्मविद्या जल्दबाजी का काम नहीं इसमें क्या कहना! अजर-अमरवत् स्थिर होकर ब्रह्मविद्या में लगे तभी सिद्धि होगी। उपासना की सम्पत्ति प्राप्त करने में भी अजर-अमरवत् लगना पड़ेगा। दूसरी ओर, जिसे धर्म समझा, उसके अनुकूल आचरण करें यह मानकर मानो मृत्यु चोटी पकड़ कर खड़ी है! सत्य बोलना क्यों ठीक है यह निर्णय भी धीरे-धीरे करो। जब निर्णय हो चुके तब मृत्यु सामने है यह समझ कर डट कर आचरण में लाओ।

**'भोगानिलबलेन च'**। प्रसिद्ध है कि साँप हवा खाता है। भोग भी अनिल या वायु है जिससे चित्त तगड़ा होता जाता है। **'आस्थादानेन चारेण'**—जहाँ आस्था नहीं करनी चाहिए वहाँ हम आस्था का दान करते हैं, आस्था को स्थिर करते हैं। बड़ा लड़का नालायक निकला, इंजीनियर बनकर कुछ नहीं देता। साथ देगा ऐसा समझ कर दूसरे को भी पढ़ाया। उसकी शादी हुई तो पत्नी ने दिमाग ख़राब कर दिया! फिर वैसे ही भ्रम से तीसरे को डाक्टरी के लिये पढ़ाया! यों हम अयोग्य में आस्था रखकर चित्त को पुष्ट करते हैं। 'चारेण' गुप्त रूप से घूमने वाला अर्थात् अपनी सच्चाई छिपाकर घूमने वाला चर या चार कहलाता है। सारा जीवन हम आडम्बर वाला बनाये रखते हैं, वास्तविकता छिपाये रखते हैं। घर में खाने को घी नहीं पर बाहर जाते हैं तो कपड़ा महँगा पहनकर ताकि लोग सच्चाई न समझें! ऐसे सारे व्यवहार से **'चित्ताहिर्याति पीनताम्'** चित्त नामक साँप मोटा-तगड़ा होता जाता है। उसकी प्रबलता यही है कि वह संस्कारों व कामनाओं से चंचल रहेगा, स्थिर होकर सत्य ग्रहण नहीं करेगा। जहाँ हवा चल रही है, दीपक की लौ इधर-उधर हो रही है, उसमें [illegible] कोई हीरे की परीक्षा कर सकता

है? आत्मतत्त्व हीरे से भी अतिसूक्ष्म विषय है। यदि चित्त में सांसारिकता की पुष्टि है तो आत्मा पकड़ में नहीं आयेगा।

**'अहंकारविकारेण ममतामलहेलया ।**
**इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम्' ॥**

ममता अहंकार छोड़ोगे तो सुख-दुःख में समान रहोगे। सर्वभूतहित द्वैतवादी कर्मनिष्ठ नहीं कर सकते क्योंकि वे अहं-मम के बंधन को मान देते हैं। अन्यों के 'स्व' को तो सर्वभूतों के हित में झोंक सकते हैं लेकिन अपना 'स्व' सुरक्षित ही रखेंगे। आज 'जनता के कल्याण' का वादा है लेकिन जनता से उनका मतलब उतने ही लोगों से है जो उनसे बने, जो उनके 'जन' हो गये। बाकी सबको वे दुष्ट मानकर उनके कल्याण की परवाह नहीं करना चाहते। जिसका हित करोगे वह प्रारम्भ में बुरा मानेगा, तब भी सुख-दुःख में समान रहो, हितविषयक निष्ठा रखो तभी हितकारी बने रह सकते हो। चित्तसर्प को पुष्ट करने से रुकने पर ही शनैः शनैः वह परमसूक्ष्म परमात्मतत्त्व के ग्रहण में सक्षम हो पाता है।



## प्रवचन द्वितीय (०९.०९.१९६९)

शुक्ल यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के दूसरे मन्त्र का विचार करते हुए बताया कि जो मनीषी होते हैं वे यज्ञरूपी क्रियाओं को किस स्थिति में करते हैं। मनीषा ही आत्मज्ञान के लिये एकमात्र साधन है। **'हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तः'** ऐसा अन्यत्र यजुर्वेद कहता है। मनीषा का अर्थ है परमात्मा की तरफ जाने वाला मन। अतः श्रुति में **'मेधामनीषे मा विशतां समीची भूतस्य भव्यस्या वृध्यै'** मनीषा मेरे अन्दर मेधा-समेत प्रवेश करे। बताये गये को धारण करना मेधा है। बताये को साक्षात् अनुभव करना मनीषा है। अन्तःकरण में पाप और उसका फल विक्षेप जब तक रहेंगे तब तक मेधा असम्भव है। मन में जो संस्कार रहेंगे उन्हीं की धारणा होगी। तेल के बर्तन में घी तुरन्त रखो तो तेल की गन्ध आ जायेगी। पाप के संस्कार दृढ़ बने हैं तो मन में अकस्मात् परमात्मतत्त्व आहित कर भी लो तो स्थिर नहीं

रहेगा। पाप अपने संस्कार से विक्षेप करता है, बुद्धि को एक जगह टिकने की सामर्थ्य नहीं देता। एक बार बच्चों की कक्षा में कहा, 'दो मिनट आँखें बन्द कर ध्यान करें' किन्तु देखा कि आधा मिनट भी आँखें बन्द नहीं रह पाईं! पाप एवं तज्जन्य संस्कारों का विक्षेप इतना है कि हम सँभाल नही पाते। प्रायः मनुष्य सोचता है कि 'एक ब्रह्म पर तो निष्ठा पूर्ण है किन्तु चुपचाप बैठता हूँ तो मन घबराता है'। यदि अद्वैत चिन्तन में घबराहट है तो अनन्त काल तक मुक्त होने पर अकेले कैसे रहोगे? जो चित्त इतनी एकाग्रता नहीं कर पाता, उसमें ब्रह्मतत्त्व स्थिर कैसे हो?

मैत्रायणी संहिता में इन मन्त्रों के पूर्व कुछ मन्त्र बताये जिनमें शांति की प्रार्थना है। वह शान्ति जडतापूर्ण नहीं है। हम रोज़ शान्ति की प्रार्थना करते हैं—**'पृथ्वी शान्तिः, अन्तरिक्षं शान्तिः, आपः शान्तिः, ब्रह्म शान्तिः, शान्तिरेव शान्तिः, सा मा शान्तिः'**। प्रत्येक चीज़ की शान्ति वेद में परमात्मा से कही। पृथ्वी में शान्ति माँगते हैं किन्तु मचाते ज़्यादा से ज़्यादा शोर हैं! कई बार शान्ति मन्त्र बोलने में इतना शोर मचाते हैं कि पड़ोसी की नींद खराब हो जाए! किन्तु वैदिक हृदय से शान्ति की प्रार्थना करता है और अपना आचार-विचार भी शान्त बनाये रखने में तत्पर होता है। इन सबके बाद कहा **'तयाहं शान्त्या'** उस शान्ति से क्या करूँ? दिशायें, गौ, पुरुष शान्त हों तो उस शान्ति से 'सर्वशान्त्या' सब देशकाल-परिस्थिति में **'द्विपदे चतुष्पदे च शान्तिं करोमि'** सर्वत्र, सबमें शान्ति का प्रवाह मैं करता हूँ। **'शान्तिर्मे अस्तु'** अर्थात् केवल अपने लिये शान्ति चाहना प्रयोजनहीन है। देवता पूछेंगे 'हम तुमको शान्ति क्यों देवें?' वेद ने जवाब दिया, 'जो आप शान्ति मुझे देंगे उसे मैं दबाकर नहीं बैठूँगा।' बैंक भी रुपया तिज़ोरी में बन्द रखने को नहीं देता। जब कहते हो कि व्यापार में लगाकर फायदा होगा, तभी देता है। ऐसे ही देवता पूछें कि क्या करोगे शान्ति से? अतः वेद ने कहा प्रतिज्ञा करो, **'मह्यं द्विपदे चतुष्पदे च शान्तिं करोमि'** कि सर्वत्र शान्ति करूँगा। यह दृष्टि नहीं रखी तो शान्ति मेधा-रहित हो जाती है। शान्ति मन्त्र अशान्ति के लिये नहीं है। आज हिन्दू ही सबसे ज़्यादा हल्ला मचाते हैं। यूरोप में पड़ोसी का भी रेडियो सुनने को नहीं मिलेगा जबकि हम कितनों की नींद हराम करते हैं, पढ़ना लिखना बन्द करवा देते हैं अपने घर के रेडियो

आदि से। जो सुनना चाहे उसके कानों तक आवाज रहे, मगर लोग दूसरे सारे घर में और पड़ोस तक में उसकी गूँज फैलाते हैं। यह इसका सूचक है कि मन में शान्ति नहीं है। आवश्यक वार्त्तालाप समाप्त होने पर शान्ति से बैठे रहने को लोग अनुचित मान लेते हैं, कहते हैं कि सिर्फ मतलब की बात करना असभ्यता है! किन्तु वेद का आदर्श है **'अग्निः शान्तिः'** आग भी जलाओ तो इतनी ज़्यादा न जले कि अत्यधिक, आवश्यकता से अधिक हो। **'वायुः शान्तिः'** साँस छोड़ने में भी शान्ति होनी चाहिये, यदि साँस तेज़ी से चलती है तो धीरे-धीरे उसके नियन्त्रण का प्रयास करो। **'आपः शान्तिः'** पानी धीरे-धीरे, शान्ति से पियो, जल व्यर्थ मत बहाओ, स्नान के लिये नल खोलो तो शान्ति से। साबुन लगा रहे हो तो नल खुला न छोड़ो। **'ओषधयः शान्तिः'** गेहूँ चावल को पीसो-पकाओ तो शान्ति से। वेद का विचार करोगे तब शान्ति रहेगी। आज दो ही दल हल्ला मचाते हैं : एक राजनीतिज्ञों का दल वोट माँगते समय और दूसरे, धर्मप्रचारक। रामायण का पाठ करने वाले रात भर लाउडस्पीकर लगा कर हल्ला मचाते हैं। जो सुनने नहीं आया, उसे अशान्त क्यों करते हो? कोई बारह बजे रात में ब्रह्मचिन्तन करे तो उसे लीला सुना कर क्या होगा? बड़ी सभाओं में वेद का यह मन्त्र याद आता है। हल्ला मचे तो स्वयंसेवक चुप हो जाओ कहते समय अधिक हल्ला करते हैं! **'मेधामनीषे मा विशतां'** इसलिये कहा कि समझ-बूझकर यह शान्ति जीवन में व्याप्त करनी है।

सबसे बड़ी शान्ति एक अखंड चिन्मात्र में है। उसमें लहर का भी उद्गम नहीं क्योंकि कुछ दूसरा है ही नहीं। **'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्'**। निष्कल = उसमें टुकड़े नहीं हैं। निष्क्रिय = उसमें परिणाम और स्पन्द नहीं हैं। क्रिया के दो रूप हैं—परिणाम या परिवर्तन और परिस्पन्द अर्थात् चांचल्य। संसार की वस्तुओं में ऐसी क्रिया सुलभ है किन्तु परमात्मा निष्क्रिय है। **'अमृतस्य परं सेतुं, दग्धेन्धनम् इवानलम्'**। जिस प्रकार ईंधन जल कर अग्नि शान्त हो जाती है, अग्नि में स्पन्दन नहीं रह जाता उसी तरह ब्रह्म की परम शान्ति है अर्थात् अशान्ति का वहाँ कोई कारण ही नहीं है। हम उसे क्यों नहीं धारण कर पाते? क्योंकि मेधा नहीं है। सोमानन्दाचार्य कहते हैं—

'एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद् वा गुरुवाक्यतः ।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्य प्रतिपत्या दृढात्मना ॥
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयाऽपि वा ।
ज्ञाते सुवर्णे करणं भावनां वा परित्यजेत्' ॥

प्रमाण से ज्ञान एक बार ही होना पर्याप्त है। सर्वत्र शिव को जान लिया, जब इसकी दृढ प्रतीति हो गई, फिर करण अर्थात् कुछ करने की आवश्यकता नहीं। कोई कृत्य शेष नहीं रहता, कृतकृत्य हो जाता है। कोई भाव अर्थात् आन्तरिक क्रिया भी नहीं करनी बाकी रहती है। सोने का टुकड़ा है या नहीं—यह जानने के लिये कसौटी पर कसना या नौसादर डाल कर गलाना करण या क्रिया है। निश्चय हो गया कि सोना है, तो कोई करण या भावना उसे सोना समझने के लिये नहीं करनी पड़ती है। यदि कसौटी लेकर घूम रहे हो तो निश्चित है कि अभी निश्चय दृढ नहीं हुआ। प्रज्ञान अर्थात् प्रतिष्ठित अपरोक्ष निश्चय ही परमार्थ में फल है। यदि दवाई खा कर रोग दूर हो गया तो क्या दवा लेकर घूमोगे? बुखार दूर हो गया, किन्तु सिर का दर्द नहीं गया तब तो रोग अभी गया नहीं। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान हो गया, शोक-मोह गया नहीं यह सम्भव नहीं। लगता है कि अब अज्ञान की तेज़ी नहीं रही किन्तु अभी वह बैठा है अतः सावधानी चाहिये। जब मेधा होगी तभी धारण की सामर्थ्य आयेगी।

एक राजा को अपने नौकर पर बड़ा विश्वास था। खजाने तक की चाभी उसी के पास रहती थी। धीरे-धीरे नौकर सिर चढ़ गया, उद्दण्डता उसमें आ गई, वह रानी को भी अपने से नीचा समझे। बड़े आदमी की आँखें ज़रा बन्द और कान खुले रहते हैं! राजा को चार-बार मन्त्री ने समझाया, 'कुछ तो नियन्त्रण रखो'। नौकर ने सामान भी इधर-उधर करना शुरू किया। रानी ने रोकने की चेष्टा की तो उसने डाँट दिया। अब रानी ने समझा कि वह तो हाथ से निकल रहा है। राजा ने परीक्षा ली। सोने की पेटी दी, कहा इसे सँभाल कर रखो, इसके अन्दर क्या है यह किसी को देखने न देना। उसने ले जाकर रखा, रात भर सोचता रहा कि इसमें ज़रूर विशेष रत्न है। पेटी वजन वाली थी, हिलाया-डुलाया तो अन्दर कुछ खिसकने की आवाज़ भी नहीं आई।

उसने सोचा कि 'कोई ठोस माल होगा। राजाओं के मन का क्या ठिकाना, कब दिमाग बदले'! अत: दूसरे ही दिन पेटी को तौलिये में बाँधा, बगल में लेकर चल दिया। राजा ने पाँच आदमी भेजे कि उस पर आपत्ति आये तो उसे बचाना। यह बात नौकर को पता नहीं थी। उसने एकान्त में नदी के पास बक्सा खोला। ताला खोला तो चार भयंकर साँप निकले। वह बक्सा विषधर सर्पों के कारण भारी था। साँप आवाज़ नहीं करते। नौकर डरा, गिर पड़ा। पाँचों सिपाही जो छिपे थे, उन्होंने बाहर निकल कर साँप दबा लिये। नौकर ने देखा तो समझ गया कि पकड़ा गया। वह वहाँ से भागा। सिपाहियों ने पाँचों साँपों को नदी में बहा दिया, बक्सा लेकर राजमहल आ गये। नौकर भाग कर गाँव में पहुँचा, उसे भोजन करना था। अचानक डाकू आ गये। एक डाकू ने कहा, 'यह तो राजा के पास रहता है इसे पकड़ो, सबसे ज़्यादा माल इसके पास होगा'। उसे मारा-पीटा, कहने लगे 'घर से माल निकाल कर लाओ'। वह बार-बार हाथ-पैर जोड़े, 'मैं तो खुद भाग कर आया हूँ यदि वापिस गया तो राजा जेल में डाल देंगे'। डाकू उसे पकड़ कर ले गये। गाँव वालों ने राजा को खबर दी कि आपके नौकर को डाकू पकड़ कर ले गये। राजा बड़ा खुश हुआ। रानी ने राजा से कहा 'महादुष्ट था, बचाकर क्या करोगे'? राजा ने कहा, 'उसने सेवा तो बहुत की है'। पुलिस से कहा, 'पता लगाकर उसको वापिस लाओ नहीं तो उसे डकैत मार डालेंगे'। थोड़े ही समय में डाकू पकड़ लिये गये। उसे वापिस लाया गया। राजा ने पूछा 'क्यों भागा फिरता है?' पैरों पर गिर कर रोने लगा कि 'मेरे से भूल हुई राजन्! आज तक मैंने कोई गलत काम नहीं किया। उस दिन मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। आपने दो बार मुझे मृत्यु से बचाया'। राजा ने उसे प्रेम से उठाया, कहा—'गलती तो सब करते हैं'। रानी ने भी देखा कि उसे सच्चा पश्चात्ताप हो रहा है। 'अब काम ठीक से करना'—ऐसा कह कर फिर उसे चाभी दे दी। रानी ने कहा कि 'घर के लड़के से भी दुर्व्यवहार हो जाता है तू भी मेरा बेटा ही है'।

विचार करो, परमेश्वर रूपी राजा का जीव सेवक है। जीव परमात्मा का मानो प्रतिबिम्ब है। परमेश्वर की सेवा, बिम्ब के ऐश्वर्य को बढ़ाना प्रतिबिम्ब का काम है। दर्पण सौन्दर्य निखारने के लिये होता है। जीव भी परमेश्वर के

ऐश्वर्य को बढ़ाने के लिये है। सत् चित् आनन्द का खज़ाना परमेश्वर ने दे रखा है। जीव में ऐश्वर्य प्रकट होता है। राम-कृष्ण भी जीवरूप बन कर आये तभी हमें ईश्वर की सामर्थ्य स्पष्ट हुई। यद्यपि परमात्मा ने सारी चाभी देकर स्वतन्त्र कर दिया है तथापि मालिक कौन है—उसे भूल कर जीव 'मैं ही मालिक हूँ' ऐसा समझने लगा। इतना ही नहीं, परब्रह्ममहिषी प्रकृति का तिरस्कार कर अपने को बड़ा मानने लगा। माया, भगवती, परमेश्वर की पत्नी प्रकृति के ऊपर भी अधिकार चाहने लगा। परमेश्वर ने परीक्षा के लिये शरीररूप बक्सा दिया। इसके चार विषधर सर्प हैं—अन्न, प्राण, मन और बुद्धि। इनमें से एक भी डस ले तो खेल ख़त्म हो जाता है। अन्नवाला साँप चार्वाक है। इसके दंश से भौतिक शरीर की सेवा में लगे रह जाओगे। स्थूल देह को तेल-फुलेल लगाने में, खिलाने-पिलाने-सजाने में लग जाओगे। यह विषधर सर्प 'ब्यूटी पार्लर' में रहता है! इस तरह अन्न ने डसा तो चार्वाक बने। प्राण ने डसा तो ताकत, बल प्राप्त करना ही पुरुषार्थ समझोगे। शारीरिक से यह स्वतन्त्र तो नहीं लेकिन कुछ अलग है क्योंकि इसमें बल प्रधान है। मन ने डस लिया तो कामनापूर्ति और कामना-अभिवर्धन में लग जाओगे। बुद्धि ने डसा तो समझोगे कि सारे संसार की समझ मेरे ही पास है! जब बुद्धि डस लेती है तब उन्नति रुक जाती है। यह लौकिक दृष्टि से भी सत्य है। हमें लगता है कि ज्ञान किसी समय समाप्त हो चुका है। इसलिये नये विचारों का न उत्थान करते हैं न उन्हें सहन करते हैं। ईसाइयों ने भी परमेश्वर को हिजड़ा-सा बना दिया यह मानकर कि उसने ईसा ही एकमात्र बेटा पैदा किया! मानो उसके बाद ईश्वर असमर्थ हो गया। बुद्धि से डसा व्यक्ति इसी तरह परमेश्वर को एक बार ज्ञान प्रकट करने वाला मानता है अर्थात् अब नवीन ज्ञान पैदा नहीं हो सकता। श्रुति ने तो परमेश्वर में 'इति' मत लगाना कहा पर हमने उसके ज्ञान में 'इति' लगा दी जब समझा कि जो जानना है मैंने जान लिया।

क्योंकि ये विषधर साँप हैं अतः इनसे रक्षा के लिये बहादुर रक्षकरूप इन्द्रियों को जीव के साथ भेजा। ढंग से देखें-सूँघें तो अपने स्थूल शरीर से भी घृणा हो जाये क्योंकि चाहे जितना इसे साफ करें, अतिशीघ्र यह अशुद्ध हो जाता है। सुन्दर व्यक्ति की लाश भी निगम बोध घाट में पड़ा रहे, कोई सँभालने न जाए, तो उस लाश को कुत्ते खा जाएँ। अब के इसने से बचने

के लिये इन्द्रियों का प्रयोग कर्त्तव्य है। बड़े से बड़ा पहलवान जीवन के अन्तिम भाग में एक बाल्टी पानी भी नहीं उठा सकता! अर्जुन ने सात अक्षौहिणी सेना एक दिन में अकेले मारी। उसी के सामने डाकू भगवान् की औरतों को भगा ले गये और वह कुछ न कर सका! हिटलर, मुसोलिनी, स्टैलिन के नाम से संसार काँपता था। बाद में स्टैलिन की लाश उठा कर बाहर फेंक दी गई। इसलिये बल या प्राण भी वास्तविक नहीं है। मन-बुद्धि का क्या घमंड करोगे?

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' ॥

यह मनु महाराज का निर्देश है। हमारी बुद्धि इतनी सक्षम थी, मन में इतना साहस था कि सारी पृथ्वी के मानवों को सिखाने का संकल्प करते थे। आज इंगलैंड, अमरीका, रूस की मात्र जूठन खाते हैं! अन्यों से सीखने में ही बड़ाई समझते हैं। अपने ज्ञान, अपनी परम्परा सिखाने का सपना भी सँजोते नहीं। मन, बुद्धि, देह, प्राण—इन चारों सर्पों का अभिमान व्यर्थ है। इन्द्रियों के सदुपयोग से चारों सर्पों से बचने के बजाय काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य रूपी डाकुओं के चक्कर में पड़ जाते हैं। शास्त्ररूपी दूत हमें बचाने परमेश्वर द्वारा भेजे जाते हैं। हम उनके द्वारा रक्षित हों तब वास्तव में प्रायश्चित्त करते हैं, परमेश्वर के पैरों में पड़ते हैं, प्रपत्ति, भक्ति, शरणागति करते हैं। तब शिवत्व की प्राप्ति होती है।

'भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यद् उपयाचितम् ।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यद् उपयाचितम्' ॥

भक्ति लक्ष्मी है, परब्रह्ममहिषी है। आज तक उसका अपमान करते रहे तो जो कुछ अर्जित किया सभी निरर्थक रहा। जब भक्तिरूप लक्ष्मी से समृद्ध हो जाते हैं, ज्ञानमयी पराभक्ति से सम्पन्न हो जाते हैं तब और कुछ न चाहिये रहता है और सभी कुछ मिल जाता है। परमात्मनिष्ठा इस भक्ति से सुलभ हो जाती है।

●

## प्रवचन तृतीय (१०.०९.१९६९)

शिवसङ्कल्पसूक्त के अनुसार विचार चल रहा है कि परमात्मतत्त्व समझने पर समग्र मन-बुद्धि आदि का किस प्रकार का व्यवहार होता है। श्रुति वेदों के अन्दर प्रतिपादित अध्यात्मवाद की आधारशिला बनाती हैं ये चार बातें कि अन्न, प्राण, मन, बुद्धि से आत्मा स्वतन्त्र है। यही शिक्षा वेदमार्ग को अन्य मतमतान्तरों से अलग करती है। मेधा-मनीषा हमारे सामने कोई आदर्श रख रही हैं। मेधा व मनीषा के लिये वेद ने विशेषण दिया 'समीची'। अञ्च धातु का अर्थ गति और प्रकाश दोनों है। प्रार्थना है कि मेधा व मनीषा दोनों हमारे सामने स्पष्ट रूप से अंचित, प्रकाशित हों। यह वैदिक अध्यात्म का तीसरा आधार है। शिवस्वरूप को समझना (मेधा) पहली आधारशिला है।बाकी सम्प्रदाय कहते हैं कि पहले कुछ करना शुरू करो, तब समझ में आयेगा। वेद कहता है, जब तक परमात्मा के स्वरूप को समझोगे नहीं तब तक जो भी कार्य होगा उसमें पूर्णता नहीं आयेगी।

संसार में अनेक झगड़े, विप्लव मत-मतान्तरों के नाम पर हुए। यूरोप में मध्ययुग में यहूदी और ईसाइयों के झगड़े हुए जिनमें एक राष्ट्र दूसरे पर चढ़ कर हजारों को मारता रहा। ऑटमन और तुर्की साम्राज्य मिल कर रोम एवं इटली के साम्राज्य पर चढ़ाई करते थे। धर्म के नाम पर हिंसा का 'क्रूसेड' नाम था। कैथोलिकों ने प्रोटेस्टेण्ट राष्ट्र पर चढ़ाई की। आयरलैंड में आज भी ईसाइयों के दो समुदायों में खून-खराबे हो रहे हैं। इसी प्रकार शिया-सुन्नी कई बार खून-खच्चर करते रहते हैं। भारत में भी कई सम्प्रदाय हैं। वेद मानने वाले और वेद न मानने वाले भी अनेक हैं। बौद्धों के सौत्रांतिक आदि कई मतभेद हैं, जैनों में दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। मुसलमानों के आने के बाद वैष्णव सम्प्रदाय शुरू हुए। पहले तत्त्व को समझ लो, तब आगे साधना का विषय चले—यह मान कर छह आस्तिक और छहों नास्तिक दर्शनों की विचारधारा थी। वेदोक्त मेधा पर ज़ोर देने के कारण भारतीयों में यह स्वाभाविक रहा। इससे विपरीत, दूसरे मज़हब मार-काट कर, धन ले-देकर, कहला भर, लेना चाहते थे कि 'मैं तुम्हारे धर्म का हूँ'। वैदिक मानता है कि 'जो भी पैदा हुआ है वह वेदानुसार मार्ग पा सकता है

भले ही किसी ने अपनी मान्यता कुछ और कर ली हो, किन्तु समझाने पर मान जायेगा, वैदिक सिद्धान्त का अनुसर्त्ता हो जायेगा। समझाने के अलावा हमारे पास अन्य कोई हथियार नहीं"। बुद्ध को भगवान् का अवतार वैदिक मान लेता है, उनका चिन्तन वैदिक नहीं मानता। बिना समझे हम चलेंगे नहीं, चाहे भगवान् आकर खड़े हो जाएँ! बुद्ध, महावीर की बात हमारी समझ में नहीं आई तो नहीं माना।

तत्त्व को समझना मात्र अध्यात्मवाद नहीं है। बिना समझे तो किसी पद्धति पर नहीं चलेंगे, पर हम अध्यात्म को बुद्धि का विकासमात्र न मान कर व्यावहारिक और क्रियात्मक आधार देते हैं। अन्य धर्म कहते हैं कि सिर्फ उनका धर्म मान लिया जाये जबकि हमारे यहाँ ज्ञानखण्ड के बाद चर्या-खण्ड आता है। जब तक सिद्धान्त को क्रियात्मक चर्यारूप न दिया तब तक ब्रह्मनिष्ठा नहीं होगी। जीवन की प्रत्येक क्रिया उस तत्त्व के अनुरूप होनी पड़ेगी। केवल दार्शनिक बनना वैदिक अध्यात्मवाद नहीं है। सारी उपनिषदें कंठ करना, शांकरभाष्य याद करना, अद्वैतसिद्धि पढ़ना आदि दार्शनिक तो बना सकता है किन्तु प्रत्येक क्षण में उस तत्त्व का स्पन्दन ही ब्रह्मनिष्ठ बनाता है। शास्त्र ने केवल श्रोत्रिय को पूर्ण नहीं माना, साथ ही ब्रह्मनिष्ठा आवश्यक बतायी। द्वैत के मिथ्यात्व से ही अद्वैत की सिद्धि है। यदि उसे पढ़ाने वाला विद्वान् घंटे भर बाद ही कहे 'मेरा लड़का अमुक काम करता है, उसकी तरक्की करवा दीजिये', तो वह संसार की त्रैकालिक असत्ता को केवल किताबी मानता है क्योंकि 'मेरा लड़का, दुनिया में तरक्की' ही उसके दिमाग में घूमती है। वैदिक कहता है कि केवल समझना पर्याप्त नहीं, निष्ठा भी उत्पन्न होनी चाहिए—जीवन को स्पंदित करने वाली दृढता का अनुभव होना चाहिये।

तीसरी आधार-शिला वेद की है कि जहाँ हमें पहुँचना है वह विश्वातीत सत्य है। सम्पूर्ण दैवी-जीवन का फल तुच्छ प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। अधिष्ठान में हमें जाना है, अध्यस्त विश्व हमारा उद्देश्य नहीं। जादू, सिद्धियाँ आदि संसार के अन्तःपाती हैं, विश्वातीत नहीं। संसार की कौड़ियों से फल लेना वैदिक का सिद्धान्त नहीं। सिद्धियों से जादू का फल प्राप्त करना इष्ट नहीं। ब्रह्मा, विष्णु के पद को भी वह समझता है **'यथैव काकविष्ठायां वैराग्यं तद् हि निर्मलम्'**

उन्हें कौए की बीट तुल्य समझना निर्मल वैराग्य है। इसके सामने संसार के लौकिक पदार्थों की तो गणना ही क्या! दूसरे मत-मतान्तर विश्वातीत और विश्व को मिलाते रहते हैं। ईसा क्यों बड़े थे? क्योंकि कोढ़ी को ठीक कर दिया। यह इन्द्रजाल, जादू-टोना विश्व के अन्त:पाती है। जैसे अध्यात्मवाद का डॉक्टरी, इंजिनियरिंग से कोई सम्बन्ध नहीं, वैसे ही अन्य भी सांसारिक प्रभावों से नहीं। उसका उद्देश्य विश्वातीत है, दैवी है। 'समीची' विशेषण से श्रुति ने इस रहस्य को बताया।

केवल सन् मात्र ही नहीं, चित् और आनन्दस्वरूप बताना चौथी आधारशिला है। दूसरे मत उसे केवल सत् तो मानते भी हैं, चित् और आनन्दस्वरूप न मानने के कारण वे उसे पुरुषरूप से स्वीकार नहीं करते। 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' आदि गीता में भी आत्मा को पुरुष शब्द से कहा। परमात्मा स्पन्दन का केन्द्ररूप पुरुष है अत:उससे केवल बुद्धि का, दर्शन का सम्बन्ध नहीं है। परमात्मा का अन्वेषण जैसे जड पदार्थ का अन्वेषण करते हो वैसे नहीं। जड को तो काटो-छाँटो, उलट-पुलट कर देखो, ऐसा व्यवहार करते हो किन्तु बेटे का पेट यदि दर्द करे तो उसका पेट नहीं काटते। उसी प्रकार जड पदार्थ मोटर बिगड़ गई तो उसके अंजर-पंजर खोलते हो। परमात्मा व्यक्तिगत प्रेम का केन्द्र है अत: सारा हृदय उड़ेलना पड़ेगा। ईश्वर के साथ प्रतिक्षण जीवित अद्वैत को वेद ने बताया। वह ईश्वर भाव से अन्य जीवादि किसी भाव की तरफ साधक को जाने नहीं देता है अत: उसके जीवन में उन्नत भावना होती है। उसके चरित्र में पूर्णता आती है, उसमें नवचेतना का केन्द्र खुल जाता है। केवल विचित्र दृश्य देखना, विचित्र ध्वनि सुनना रूपी मत-मतान्तरों का अध्यात्मवाद वेदसंगत नहीं है। इस मार्ग में नई रोशनी अथवा नए रूप ही नहीं दीखते, नई आवाज़ों को सुनने आदि का ही सम्बन्ध अध्यात्मवाद से वैदिक नहीं मानता। रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श की अनुभूति के आधार को परमात्मा जानना, फलत: एक नव चेतना का विकास एवं जीवन के प्रत्येक कण में एक नई पूर्ण दृष्टि ही **'यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां'** से कहा। **'भूतस्य भव्यस्य अवरुध्यै'** अर्थात् भूत-भव्य जिसके अवरुद्ध हो गये, वह केवल आनन्दस्वरूप में अद्वैतभाव से स्थित है। पहले जो जीव था वह अब मुक्त हो गया—इतना ही कहोगे तो भविष्य का

चक्र कट सकता है। वेद यह नहीं कहता वरन् बताता है कि पुराने जन्म-मरण भी कट गये! आज तक जन्म-मरण नहीं हुआ—इस बात को समझना है। इसे अनुभव, निश्चय कह नहीं सकते—क्योंकि जन्मादि का त्रैकालिक अत्यन्ताभाव स्वीकार है। स्वप्न से जग कर क्या यह कहते हो कि लाख के कर्जे से मुक्त हो गये? तुम्हें समझ आता है कि लाख का कर्जा लिया ही नहीं था। इसी से गीता में कहा है—**'सन्तुष्टः सततं योगी'** वह निरन्तर सन्तुष्ट रहता है। ऐसा नहीं कि जो मिला उससे गुज़ारा निकाले बल्कि विश्वोत्तीर्ण स्थिति के सामने संसार की वस्तुओं की कोई स्थिति नहीं रह जाती। ऐसे योगी की विश्व की तरफ दौड़ लगती नहीं। **'मयि अर्पितमनोबुद्धिः'** अपने मन-बुद्धि परमात्मा पर अर्पित कर चुकता है। **'अरा इव रथनाभौ'** से पिप्पलाद ने अर्पण का तरीका भी बताया। चक्के की ताड़ियाँ जैसे नाभि में आश्रित होती हैं ऐसे भक्त परमात्मा पर ही आश्रित होता है। संसार के पदार्थों से उसकी दृष्टि हटेगी ही।

इन चार आधारशिलाओं को लेकर कब चलेंगे? गोविन्दपाद, शंकरभगवत्पाद के गुरु क्रम बताते हैं—**'इति धनशरीरभोगान् मत्वाऽनित्यान् सदैव यतनीयम्'** कैसे प्राप्त हो सकेगा? धन, शरीर, भोग अनित्य हैं ऐसा मननपूर्वक निश्चय करना होगा। हम नित्य हैं। नित्य को अनित्य से सुख नहीं होता। आजकल लोग शादी-ब्याह में पैसा देखते हैं जबकि पहले के लोग लड़के की उम्र देखते थे। यदि ज्योतिषी ने कह दिया अष्टम स्थानकी स्थिति ऐसी है कि अगले साल मर जाना है, तो लाख रुपया, सुन्दर शरीर किस काम का! लड़का दीर्घायु नहीं तो व्यर्थ है। तुम अन्तःकरण की वृत्तियों का विवाह करने चले किनसे? अगले क्षण नष्ट होने वाले पदार्थों से! इसे छोड़कर नित्य शिव को पतिरूप में वरण करने का यत्न करो। बुद्धिमान् इस क्रम को समझते हैं। एक देश का नियम था कि जो बुड्ढा हो जाए उसे मार डालो क्योंकि खूसट किस काम के! एक आदमी का पिता बुड्ढा हुआ, उसे राज्य ने मारने का हुक्म दिया। पुत्र को पिता से प्रेम था। उसने गड्ढा खोद कर गुफा बनाई, उसमें अपने पिता को रख दिया, साथ ही भोजन पानी का इन्तजाम कर दिया, दो चार साल बाद उधर से एक विद्वान् निकला। उसने राजा से कहा हमने तुम्हारे यहाँ बुद्धिमान् नहीं देखे। दो साँप हमारे पास हैं, अगर

तुम्हारे राज्य में कोई बुद्धिमान् है तो बताओ कि उनमें से नर कौन है, मादा कौन है'? सबने कहा 'हमें पता नहीं लगता'। राजा ने घोषणा करा दी कि इस समस्या का समाधान करने वाला पुरस्कृत होगा। पुत्र ने अपने पिताजी से जिक्र किया। पिता ने कहा 'तू उत्तर देने चला जा। दोनों सापों को मुलायम गलीचे पर लिटा देना। जो हिलने-डुलने लगे वह नर होगा, जो पड़ा रहे वह मदा'। मखमल का गलीचा मँगवाया गया, उसके ऊपर साँप छोड़े गये, उसने झट बता दिया। विद्वान् ने कहा, 'राजन्! आपके राज्य में यह एक ही बुद्धिमान् निकला'। राजा ने उस पुत्र से कहा 'जो माँगना है वह माँग'। वह बोला 'यह मेरे पिताजी की बुद्धि है, मेरे पिता को मरवाने का हुक्म वापिस ले लीजिए। राजन्! आप बुड्ढों को मरवा देते हैं, इसलिये राज्य का यह हाल है'। राजा ने सबको मरवाना बन्द कर दिया।

बुद्धिमान् अनुभव से ही होता है। अनुभूति ही तो बुद्धिमत्ता है। हम सब राजा हैं पर असली वृद्ध को मारते हैं—**'के वृद्धाः? ये पठन्ति वेदान्'**। हमने गत ढाई हज़ार सालों से वेद को 'बहुत पुराने हैं' यह मान कर मारने का अभियान चला रखा है। नयी बात, विदेशी विचार अपनाओ इस वेद को मार कर ख़त्म करो—यह हमें उचित लगने लगा है। किन्तु जब प्रश्न उठता है कि द्रष्टा-दृश्य का जो चक्कर संसार में है, बताओ उसमें नर (द्रष्टा) कौन है? तब जिसने वेद (पिता) को अपने हृदय में जगह दी वही तुमको बुद्धिमानी का उत्तर देगा। संसार में वृत्ति जिसे विषय (ग्रहण) करती है, वह पति बनाने योग्य नहीं, पति तो शिव को बनाना चाहिए। इस ज्ञान को देने वाले वृद्ध पिता अर्थात् वेद को बचाना चाहिए।



## प्रवचन चतुर्थ (११.०९.१९६९)

वैदिक अध्यात्मवाद के चार आधार बताये। कर्म और धीरता का स्वरूप समझाया। आगे मन्त्र कहता है **'यद् अपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्'** जो अपूर्व यक्ष सब प्रजाओं में है। 'प्रकर्षेण जायते' इस भाव से जड-चेतन सब प्रजा हैं। प्रजाओं के अन्दर चेतन प्रजा में विशेष रूप से और जड में कुछ कम प्रकट, पर वह उपस्थित सर्वत्र है। यक्ष को अथर्ववेद बताता है—

'यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्ते
उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम्।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति
सा विराड् ऋषयः परमे व्योमन्'॥
(अथर्व. ८.९.८)

च्यवन अर्थात् चूना जैसे मटके से पानी चूता है, मटके से पानी, दूध आदि जो भरा होगा वहीं चूयेगा। जो पदार्थ भरा है वही प्रच्याव मटके के बाहर है। उसे देख कर पता लग जाता है कि अन्दर क्या भरा है। अन्तःकरण में यदि यक्ष भरा है तो उससे यक्षवत् (यज्ञ ही) प्रच्यवन होगा। चूना अनायास होता है। जो कार्य अनायास हो वह अन्तःकरण का प्रच्यवन है। जैसे लहसुन खाने वाले के मुँह से उसकी बदबू अनायास निकलेगी। 'अनुयज्ञा' से कहा कि स्वभावतः उसकी सारी क्रिया यज्ञ होगी। यज् धातु का अर्थ है—पूजा अतः यक्ष अर्थात् पूज्य। उसकी क्रिया सर्वत्र परमात्मा की दृष्टि से होगी। घड़े में घी भरा है तो तेल नहीं चुएगा! अन्तःकरण से यदि अयज्ञीय कर्म चूता है तो उसमें यज्ञ भरा नहीं है। यक्ष जैसे खड़ा रहता है, उपस्थित रहता है, उसके देह इन्द्रियादि भी उसके अनुरूप खड़े रहेंगे। चूने अर्थात् प्रच्यवन में गति है। 'उपतिष्ठन्ते' में गतिहीनता है। जव मनुष्य कुछ नहीं करता है वह निवृत्ति भी एक वृत्ति ही तो है! कुछ नहीं करना भी एक प्रकार से करना ही है। तुम्हारे सामने एक व्यक्ति पिट रहा था, तुम बिना कुछ किए हुए देखते रहे तो यह भी अन्तःकरण के एक स्वरूप को बताता है।

एक आदमी ने बड़ी कठनाई से रुपया उधार लेकर गाँव में मकान खड़ा किया। उधार वापिस करने की चिन्ता मन में रहने लगी। उसने गहने भी बेच दिये। सोचने लगा 'यदि गाँव में धन पैदा करने की सम्भावना होती तो उधार ही क्यों लेना पड़ता? बाहर जा कर कमा कर लाऊँगा'। घरवाली से कहा 'तुम बच्चों के साथ यहाँ रहो, मकान की देखभाल करना'। वह गया, दस बारह वर्ष तक परिश्रम करके अशर्फी का तोड़ा लेकर वापिस आया। पहुँचा, तो देखता है, घर में आग लगी हुई है—कोई लड़का कपड़ा लेकर निकल रहा है कोई सन्दूक ले कर। मकान की आग बुझाने की चिन्ता किसी को नहीं

अपनी-अपनी चीज़ों की चिन्ता सभी को है। उसने सोचा, 'ये लोग कोशिश करके आग क्यों नहीं बुझाते'? अत्यन्त परिश्रम से कमाया अशर्फी का तोड़ा देकर भी वह मकान बचाना चाहता था लेकिन लड़का कहने लगा, 'अशर्फी बचा लो, उसे मकान के लिये क्यों देते हो?' उसने कहा 'यह मकान मेरा बनाया है, तुम तो केवल इसमें रहे हो।' वह तो अपना मकान बचाना चाहता था जबकि पुत्र आदि अपनी-अपनी वस्तुएँ बचाना चाहते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में मकान का महत्त्व नहीं।

इसी प्रकार साधना द्वारा जो सारे अन्त:करण का निर्माण करता है वह तो उसमें एक भी बहिर्मुख वृत्ति आने पर दु:खी होगा, किन्तु मन, बुद्धि आदि तत्तद् वृत्ति को दु:ख नहीं होगा, क्योंकि उन्होंने तो साधना की नहीं है। परमात्मा ने जगत् का निर्माण कर, उसमें अपना ज्ञानरूप प्रतिबिम्ब भी डाल दिया। सृष्टि का, विराट् पुरुष का क्रिया-कलाप सदैव ठीक रहे—यह यक्ष की दृष्टि है। व्यष्टि दृष्टि चाहती है कि 'मेरी चीज़ ही बनी रहे'। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक जेल में भी आकर उस समष्टि के हितार्थ पैदा हुए अत: विराट् पुरुष की रक्षा के लिये मुझे भी प्रयत्नशील बनना होगा तभी ईश्वर का अनुसरण होगा। व्यष्टिवादी उस धर्म की रक्षा के लिये दो घंटे खर्च करना नहीं चाहते!

जयपुर में एक व्यापारी सज्जन ने बताया कि अमेरिका से आये एक ग्राहकने माल का मूल्य देते हुए दो चैक काटे; एक तो व्यापारी को दिया, दूसरा उसके पास रहा। व्यापारी ने प्रयोजन पूछा तो उसने बताया 'जितना मैं अपने ऊपर खर्च करता हूँ उतना ही चर्च को भेज देता हूँ। जिस दिन बीस हज़ार खर्च किए उसी दिन बीस हज़ार चर्च के नाम भी कर दिये'। तत्काल चैक काटने से आगे कितना धन बचा है यह भान रहता है अन्यथा खर्च ज़्यादा हो जायेगा, चर्च को देना टल जायगा। उसकी दृष्टि धर्म बचाने की है। प्राय: धनाढ्य भी धर्मार्थ खर्च के बारे में इतने सावधान नहीं होते। परमात्मा इतनी बड़ी सृष्टि बचाता रहता है। एकत्व-दृष्टि होने के कारण वह सृष्टि की रक्षा करता है। आग वाली घटना में लड़के कुछ कर थोड़े ही रहे थे; उन्होंने आग नहीं लगाई थी। उनकी सोच थी कि 'हमने नुकसान नहीं किया, यदि हो रहा है तो कम-से-कम अपनी चीज़ें बचा लें'। जबकि पिता

समूचा मकान बचाने को तत्पर था। साधना से प्राप्त की गई परम शान्ति को भी साधक दूसरों के हित में छोड़ देता है—

**'दुर्जनः सज्जनो भूयात्, सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।**
**शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो, मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्'** ॥

परम शान्तावस्था में भी प्रवृत्ति का यह कारण है। परमात्मा से एकभाव को प्राप्त हो गया तो सम्भव नहीं है कि समष्टि के कल्याण के लिये शान्ति का त्याग कर उस अग्नि को बुझाये नहीं।

**'यस्या व्रते'** वह अपने नियम में स्वयं को बाँधता है। जो अपने नियम का खुद पालन नहीं करता, उसके नियमों का कोई अन्य क्या पालन करेगा! यदि मैं अपने नियम नहीं पालता तो निश्चित है मेरा बनाया वह नियम नहीं। जब तक धर्म किसी और द्वारा लादा बोझ है तब तक मैं द्वैत की स्थिति में हूँ, अन्यथा ईश्वर के नियम मेरे ही नियम हैं। **'प्रसवे'** अर्थात् यज्ञ में। सव अल्पकालीन यज्ञ को एवं सत्र दीर्घकालीन यज्ञ को कहते हैं। सृष्टि एक सत्र ही तो है। सृष्टि-यज्ञ में यक्ष सचेष्ट बना रहता है। **'ऋषयः'** अर्थात् परमात्म-मार्ग में चलने वाले। वह परमात्मा उनके हृदय में मौजूद है। आत्मा तो वहाँ भी यक्ष ही गति कर रहा है। यजुर्वेद के मन्त्र में **'यदपूर्वं यक्षम्'** यक्ष को अपूर्व कहा। अपूर्व अर्थात् जो पहले कभी नहीं हुआ। जब यक्षरूप परमात्माका प्रवेश हृदय में होगा तब तुम्हारा जीवन ऐसा होगा जैसा पहले कभी नहीं रहा। कूर्मपुराण, अभाव-योग और महायोग ऐसे दो बताता है। संसार के कर्त्तव्यों के प्रति अभाव-निश्चय ही अभाव योग है। आचार्य ने कहा है—

**'भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।**
**पूर्णवृत्त्या हि पूर्णत्वं तस्मात् पूर्णत्वमभ्यसेत्'** ॥

धन, पुत्र आदि की ओर रहने वाली भाव दृष्टि है जिसका अभाव शून्य दृष्टि है। **'यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्। मयैक्यं स महायोगः'** जहाँ दृष्टि है कि आत्मा नित्यानन्दस्वरूप, कल्मषरहित प्रत्यक्स्वरूप है, वह महायोग है। यक्ष या विद्वान् का मन महायोग में ही स्थित होता है जो व्यष्टिभाव रहते सम्भव नहीं अतः अपूर्व है। अतः मुमुक्षु अन्य भाग छोड़ कर

मुक्ति के लिये प्रयत्न करे। शरीर के लिये प्रयत्नशीलता, इन्द्रियों केलिये प्रयत्न करना ही तो बन्धन है! केवल एक व्यक्ति को अपना पुत्र समझना परिच्छेद है।नित्यमुक्ति कोई अजीबोग़रीब चीज़ नहीं है—सर्वज्ञात्म महामुनि कहते हैं—

**'यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते।**
**निवर्तनाद् हि सर्वतः न वेत्ति दुःखमणवपि' ॥**

जिस-जिस से निवृत्ति कर ली उससे तो छूट ही गये। निवृत्ति का प्रयत्न मुक्ति के लिये है। 'वृत्ति' अर्थात् विषय की तरफ एकाग्र-भाव; निवृत्ति अर्थात् उसकी तरफ सामान्य भाव, एकाग्र नहीं। जिस-जिस विषय को ज्ञान की एकाग्रता के क्षेत्र से बाहर कर देते हैं वह बन्धनकारी नहीं रह जाता। मुक्ति ज्ञान से होगी। **'वैराग्यस्य फलं बोधो, बोधस्योपरतिः फलम्'** यदि उपरति नहीं आ रही है तो समझ लो कि ज्ञान का अंकुर फूटा ही नहीं। ज्ञान का फल ही है संसार के पदार्थों के प्रति रति का अभाव। बोध अर्थात् ज्ञान, वही उपरति देगा। ज्ञान के लिये बार-बार संसार के स्वरूप और आत्मा के स्वरूप के बोध की आवृत्ति करनी है। अज्ञान तुम में अभ्यास से प्रतिष्ठित है। कोई तुम्हारा नाम पूछे तो कहते हो 'केशवराम'। अभ्यास से ही यह नाम अपने में लाये। हिज्जे याद हो जाएँ तो उसे ठीक करने के लिये दस हज़ार बार लिखो। अभ्यास बदल गया तो व्यक्ति ठीक लिखेगा। उसी प्रकार अज्ञान भी अभ्यास से दूर होगा। पक्का याद करने के लिये मुँह से इतनी ज़ोर से बोलो कि कान से भी सुनाई दे, साथ में लिखो भी तब अभ्यास दृढ होगा। उसी प्रकार ज्ञान, इच्छा, क्रिया—तीनों से यक्षवत् आचरणको दृढ करना पड़ेगा।

**'स च स्थिरे देहे'** अभ्यास वही कर सकेगा जिसने देह (अन्तःकरण) को स्थिर बना लिया। केवल शरीर की ही नहीं, अन्तःकरण की स्थिरता भी अनिवार्य आवश्यकता है। 'गंगा गये तो गंगादास, जमुना गये तो जमुनादास'—ऐसे में परमात्मा कैसे आयेगा? दुकान में दुकान-दास, घर में पत्नी-दास, घूमने में मित्र-दास—ऐसा व्यक्ति परमात्मपरायण नहीं हो सकता। इन्द्रिय मन से बाह्य देह भी तभी स्थिर होगा जब अन्तःकरण स्थिर होगा। एक तरह से यह नया शरीर है जो संसारचांचल्य से रहित है। यह

भगवान् और पार्वती से उत्पन्न है। **'ये चात्यक्तशरीरा हरगौरी सृष्टिजां तनुं प्राप्ताः'**। हर अर्थात् पदार्थों के नाम-रूप का हरण करने वाले, उन्हें मानो खा जाने वाले शिव और गौरी अर्थात् विद्या; उनकी सृष्टि में हुआ शरीर जिसे मिला वही फिर मुक्त होगा। जैसा साक्षी का स्वरूप है वैसा ही जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाये तभी यह दिव्य देहलाभ कहा जाता है। साक्षिभाव हर-गौरी से प्राप्त है जबकि माता-पिता से प्राप्त द्रष्टा-भाव हमारा अशुद्ध अन्तःकरण है। माता-पिता राग-द्वेष आदि सिखाते हैं। कहते हैं कि संसार में पैसा कमाओ तो राग की शिक्षा दे रहे हैं। 'दूसरों से सावधान' कहने का मतलब है कि द्वेष सिखा रहे हैं। गुरु भी पिता ही माने गये हैं। आजकल विद्यालयों में राष्ट्र के गुरुजन भी काम, क्रोध, राग, द्वेष की ही शिक्षा देते हैं। धर्मविरोध का खूब प्रचार करते हैं जबकि परमात्मा की पूजा में पाँच मिनट बैठना भी राष्ट्र को नष्ट करने का तरीका मानते हैं! कहीं इश्तहार का कागज चिपका देखा जिसपर लेख था कि किस प्रकार व्यभिचार में प्रवृत्त होकर भी पुत्रोत्पत्ति से बचा जाए! यह प्रचार तो धन का सदुपयोग माना जा रहा है जबकि भगवान् का ध्यान समय व सामर्थ्य का दुरुपयोग समझा जा रहा है। इस सोच के चलते नित्यानन्द नहीं होगा।



## प्रवचन पञ्चम (१२.०९.१९६९)

यजुर्वेद के शिवसङ्कल्पसूक्त का तीसरा मन्त्र है—

**यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।**
**यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥**

[ *प्रज्ञान, चेतस् और धृतिरूप जो ज्योति प्रजाओं के भीतर है, जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता, वह मेरा मन शिवसङ्कल्प बनाये।* ]

उपाधियों से अध्यारोप करके स्वरूप को प्रथम मन्त्र में बताया।उसकी स्थिति जीवन में किस प्रकार बनती है—यह द्वितीय में बताया। उसको कैसे स्थिर किया जाए यह तृतीय में बताया है। वह प्रज्ञान-स्वरूप है, चेतःस्वरूप

है, धृतिस्वरूप है। **'प्रज्ञानं बुद्धिचिह्नयोः'** बुद्धिरूपी जो चिह्न है अथवा बुद्धि का जो चिह्न है, बुद्धि के द्वारा जिसका पता लगे वह मन है। जहाँ-जहाँ बुद्धि होगी वहाँ-वहाँ प्रज्ञान होगा। 'चिति संज्ञाने' से चेतः शब्द बना जिसका अर्थ है सामान्य चेतनभाव। धृ मायने धारण करना। धृत की अवस्था, धारण किए हुए की अवस्था धृति है। ये तीन उसके स्वरूप बताये। वह इच्छारूप भीतरी ज्योति रहते हुए अमृत की ओर प्रवृत्ति कराता है। परमात्मा ही इच्छारूप से अमृत की तरफ ले जाता है। जो मृत्यु की तरफ ले जाए वह कामना। नाम-रूप-कर्म ही मृत्यु है। अमृत से अतिरिक्त इच्छायें रखने से यक्ष में स्थित नहीं रह सकते हैं। इस प्रकार ज्ञान-इच्छा-क्रियारूप बताकर शिवसङ्कल्प की प्रार्थना है।

**'यत् प्रज्ञानं'** के द्वारा बताया कि उसका स्वरूप प्रज्ञान है। यह मन्त्र ऋग्वेद में भी है। ऐतरेय उपनिषद् में प्रज्ञान के **'संज्ञानं, आज्ञानं, विज्ञानं प्रज्ञानं–सर्वाण्येतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति'** अनेक नाम बताये। जितनी भी अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं, सब प्रज्ञान के ही नाम हैं—जैसे कड़ा, करधनी, नथ आदि सब सोने के ही नाम हैं। अन्यत्र कहा कि **'प्रज्ञया वाचं समारुह्य सर्वाणि नामानि आप्नोति'** प्रज्ञा से सम्बन्ध स्थापित कर वाणी के द्वारा सारे नामों को प्राप्त करता है। जैसे मोटर पर चढ़ा व्यक्ति मोटर से ही शहर घूम लेता है, ऐसे वाणी पर चढ़ कर सारे नाम प्राप्त कर लेता है। प्रज्ञा ही चक्षुरादि तत्तत् आकारों को लेती चलती है। किन्तु यही प्रज्ञा स्वयं अपने आपसे आत्मतत्त्व को ढाँकती भी है! प्रज्ञा दो प्रकारकी है—एक लौकिक, अर्थात् विषयों की तरफ जाने वाली और दूसरी, अलौकिक अर्थात् विषयों से दूर करने वाली। जैसे घी कहलाने वाला आधुनिक डालडा शरीर को कमजोर करता है जबकि वास्तविक घी शरीर को पुष्ट करता है अथवा दूध ताकत देता है लेकिन 'डबल टोन' किया हुआ कमजोरी देता है अथवा एक अग्नि भोजन पकाती है, दूसरी 'क्व्याद' नामक अग्नि मुर्दे को जलाती है ऐसे लौकिक प्रज्ञा एवं अलौकिक प्रज्ञा में अन्तर है। दोष अग्नि, दूध, घी में नहीं वरन् उपाधि में है इसी प्रकार लौकिक पदार्थों को विषय करना और अलौकिक को विषय करना इस उपाधिभेद से ही फर्क है, स्वरूपतः प्रज्ञा में नहीं। संकुचित करने वाली लौकिक, विस्तृत करने वाली अलौकिक प्रज्ञा है।

'नित्यं स्वोदरपूरणाय सकलानुद्दिश्य वित्ताशया
व्यर्थं पर्यटनं करोमि भवतः सेवां न जाने विभो!।
मज्जन्मान्तरपुण्यपाकबलतस्त्वं शर्व सर्वान्तरः
तिष्ठस्येव हि तेन वा पशुपते ते रक्षणीयोऽस्म्यहम्॥

प्रतिदिन अपने उदर को भरने के लिये जो प्रज्ञा विचार करती रहे कि मुझे क्या मिलेगा, वह लौकिक प्रज्ञा है। 'मैं परमात्मा के लिये क्या करूँ' यह विचार अलौकिक प्रज्ञा है। अपने मन को टटोलो : वेदान्त-श्रवण से मुझे सुख मिलता है—यह तो लौकिक प्रज्ञा है। वेदान्त के लिये मैं क्या कर सकता हूँ?—यह अलौकिक प्रज्ञा होगी। श्रुति कहती है—**'उद् अरम् अन्तरं कुरुते'** अपने को परिच्छिन्न समझते हुए, अपनी परिच्छिन्न कामनाओं की पूर्ति में संलग्न भयभीत ही रहता है। परिच्छिन्न पदार्थों से अपरिच्छिन्न आत्मा की तृप्ति कैसे सम्भव है! सकल अर्थात् सब को उद्देश्य बनाकर धनार्थ भटकना—लौकिक प्रज्ञा है। अथवा तीन प्रकार के दोषों से ग्रस्त 'सकल' जीव है।मायिक, कार्मिक और आणविक ये तीन मल हैं। माया का आवरण, कर्मों का आववण और सारे पदार्थों की कामना—ये मल जिसमें हैं वह सकल है। अभी तक हमने कला वाले पुरुषों का ही विचार किया, जिन्हें भी अपना मानते हैं—मेरा पुत्र, मेरी स्त्री आदि, वे सभी 'सकल' हैं। निष्कल परमात्मा निरवद्य, निरञ्जन का उद्देश्य हमारे सामने नहीं है। यही कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी का भेद है। स्त्री, पुत्र, वित्तादि के लिये बैल की तरह घूमना कर्त्तव्य है यह कर्मकाण्डी कहता है।ज्ञानकाण्डी निष्कल परमात्मा को उद्देश्य बना कर 'सकल' की तरफ दृष्टि नहीं करना कर्त्तव्य मानता है।

यों भटकते हैं हम वित्तकी आशा से। उपासना रूप दैववित्त और सामान्य धन दोनों वित्त हैं। मन्त्र, जप, अनुष्ठान करने वाला भी वित्त कमाता है अतः कर्मकाण्डी सोचता रहता है कि अनुष्ठान द्वारा मुझे परमात्मा से क्या मिलेगा? वह दैव वित्त या लौकिक वित्त प्राप्त करना चाहता है। 'सकल' के लिये किया सारा प्रयत्न व्यर्थ है—यह निश्चय ही विवेक है। संसार के पदार्थों की अनित्यता का ज्ञान ही उसे व्यर्थ सिद्ध करता है। तब विवेक से वैराग्य आयेगा। परमात्मा का किञ्चित भी विचार नहीं किया—यह समझ ही है

वैराग्य का फल। व्यर्थ समझते ही पर्यटन हट जायेगा, संसार की तरफ घूमना नहीं रहेगा। **'भवतः सेवां न जाने विभो'**! आज तक शिव की सेवा के लिये कुछ नहीं किया। यह विवेक कहाँ से आया? **'मज्जन्मान्तर-पुण्यपाक-बलतः'** जन्मान्तरों में जो पुण्य किये वे परिपक्व होने पर ही यह ज्ञान आयेगा अन्यथा कंठ के ऊपर-ऊपर ही रहेगा! **'कलौ वेदान्तिनः सर्वे फाल्गुने बालका इव'**—बच्चे शब्द का अर्थ नहीं जानते, वे फाल्गुन अर्थात् होली में गाली देते हैं। इसी तरह कलि में सभी वेदान्ती हो गये हैं! यहाँ कलि शब्द युगवाची नहीं है, **'कलिः शयानो भवति'** जो परमात्मा की तरफ से सोया है वह कलि है। वह पुण्यफल तो उत्पन्न कर नहीं पाता, बुरी बात अवश्य सीख जाता है। ऐसे अनजान या कम समझदार को **'सर्वं ब्रह्ममयम्'** बताना फलतः उसे महान् नरक के जाल में फँसाने जैसा हो जाता है। किसी को नरक में गिराना है तो शुभ कर्म छुड़ाने का यही तरीका है। इस शरीर को देखो, मूलमूत्र का थैला है। प्रतिदिन भोजन करके विष्ठा बनाने वाले को यदि वैराग्य का भाव नहीं उठता, तो किस किताब से उठेगा!

एक व्यक्ति श्मशान में भूत सिद्ध करने गया। वह वहीं रहने लगा। अनुष्ठान कर रहा था, चिता से आवाज़ आई 'अरे, जल्दी से इधर आ जा'। वह डर गया और भाग कर आ गया। दूसरे दिन मित्र को उसने सारी कथा सुनाई। मित्र बहादुर था उसने सारी बातें पूछ ली और वहाँ पहुँच गया, वैसे ही अनुष्ठान किया। थोड़ी देर बाद आवाज़ आई 'अरे इधर आ जा, तेरा साथी तो डर कर भाग गया। मैं धनराशि हूँ। तू वीर है, तेरे यहाँ प्रातः ही आऊँगा, तेरे घर मैं अक्षय धन रखूँगा। तू मेरी अभ्यर्थना करना। सबेरे बारह आदमियों के साथ महात्माओं के रूप में आऊँगा। तुम पैर धुलाना, भोजन कराना। एक कमरे में घुसा कर बन्द करना, चौबीस घंटे बाद खोलना, हम हीरे बनकर पड़े होंगे'। दूसरे दिन बारह महात्मा एक सज्जन के साथ आये। उनकी यथोक्त सेवा कर उन्हें कमरे में बन्द कर दिया। चौबीस घंटे बाद कमरा खोला तो हीरे अशर्फी पड़े थे! वह भली प्रकार खर्च करने लगा। उसका एक पड़ोसी था। घरवाली ने पड़ौसिन को सुनाया था 'मेरे पति ने बारह महात्माओं को निमन्त्रण देकर बन्द कर दिया तो वे हीरे बन गये'। पड़ौसिन ने अपने पति से कहा 'तुम भी ऐसा करो'। वह भी बारह महात्माओं को निमन्त्रण दे

आया। भोजन के बाद कमरे में ले गया। वहाँ सबको ताला मार कर बन्द कर दिया! सोचा चौबीस घंटे बाद खोलूँगा। दैनिक क्रिया के लिये भी नहीं खोला। खोला तो देखा, वहीं टट्टी-पेशाब किये थे! कहने लगा 'तुम महात्मा नहीं हो, अन्यथा हीरे पन्ने बन गये होते'! महात्मा जान बचा कर भागे। पहले साधना का प्रयास करने वाले व्यक्ति को पता चला। वह साधना सफल किये से कहने लगा 'हमने बताया था अतः यह खजाना मेरा है'। उसने कहा 'तो ले जाओ'। वह गया तो वहाँ साँप ही साँप थे। बोला, 'तुम ठगते हो'। उसने कहा 'देख, हीरे हैं'। उसने हाथ लगाया तो साँप ने डंक मारा।

इसी प्रकार परमात्मा की प्राप्ति के लिये साधना में लगते हैं पर हिम्मत नहीं है। परमात्मा कहे 'मेरी तरफ आओ' तो भागते हैं कि दूर से ही अच्छे हैं परमात्मा! किन्तु हिम्मत वाले के पास जब वे आते हैं तब बारह के साथ—विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा, मुमुक्षा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन—इनके साथ आते हैं। ये परा भक्ति के लक्षण हैं। विवेकादि का अभ्यास परमात्मा की सेवा है। गीता में कहा है कि विविक्तसेवादि सब करने से परा भक्ति की प्राप्ति होती है। जो परम रहस्य शास्त्र में बताया है उसे कभी क्षीण न होने के लिये नित्य प्रयत्न करना पड़ेगा। नित्य निरन्तर भगवान् के रहस्य का चित्त में प्रवाह रहे तभी कल्याण सम्भव है। ऐसे साधक पर ही भगवान् का सर्वाधिक प्रेम होता है। जैसे डरपोक भक्त पास नहीं जा पाया अतः फल से वंचित रहा वैसे जब तक हम अहंकारवश न श्रवणादि में तत्पर होते हैं और न पदार्थशोधन करते हैं तब तक साधना सफल नहीं हो पाती। अपना चित्त सर्वथा भगवान् को अर्पण कर दें तो उन्हीं की कृपा से दुर्गम संसार सागर तर सकते हैं।

यदि 'देहादि ही मैं हूँ' समझकर इन्हीं के कार्यों को कर्त्तव्य मानकर चेष्टा करें तो नाश निश्चित है। भीरु ने भी सुना लेकिन भागा, जाकर मित्र को सुनाया। मित्र वीर था, उसमें नुकसान की चिन्ता नहीं, वह आगे बढ़ा और उसे फल भी मिला। उसने बारहों के साथ नियमपूर्वक अभ्यर्थना की अर्थात् वैराग्यसम्पन्न साधक अभिमान छोड़कर शास्त्रनिर्देश को अपने जीवन में लाने का प्रयत्न करता है तो उसे विवेक वैराग्यरूप बहुमूल्य हीरे प्राप्त हो जाते हैं। जो समर्थ होकर भी विवेकादि की इच्छा न करे उसका कल्याण असम्भव है।

दुर्योधन क्योंकि स्वयं असमर्थ था इसलिये भीष्म-द्रोणादि मिलकर भी उसे नहीं बचा सके! भीष्मादि जानते थे कि वह अक्षम है पर मोहवश प्रवृत्त रहे जबकि साधना में रक्षक ईश्वर और गुरु हैं जो दोनों मोहरहित हैं अत: साधक की योग्यता एवं तत्परता के अनुरूप सहारा देते हैं। इन्द्रिय-मन को वश में न रखें तो जैसे अनियंत्रित घोड़े वाला रथ गड्ढों में जा गिरता है वैसे हमारा पतन होगा ही। जैसे जिन्हें भगवान् ने संकल्प द्वारा पहले ही मारा हुआ था, उनकी रक्षा का प्रयास विफल रहा वैसे यह संसार क्योंकि है ही असत्य इसलिये इसके प्रयोजन से किया प्रयास व्यर्थ ही होता है। इस चेष्टा में जीवन बेकार करने वाला नष्ट होगा ही। भले ही प्रकृतिवशीभूत हो हम संसार-सम्बन्ध बचाने में लगे रहें लेकिन उससे अभीष्ट-सिद्धि हो नहीं सकती। यदि वास्तविक वीरता की तरह वास्तविक भक्ति नहीं होगी तो विवेक-वैराग्य चित्त में आ भी गये तो दु:खी होंगे! उनका फल ज्ञान-निष्ठा न होकर जैसे महात्माओं का मल-मूत्र ही रहा वैसे लौकिक भोग-सन्मान आदि ही होगा। अत: लौकिक प्रज्ञा का तिरस्कार कर परमार्थ प्रज्ञा का ही आश्रयण करना चाहिये।



## प्रवचन षष्ठ (१३.०९.१९६९)

यजुर्वेद के **'यत् प्रज्ञानम्'** आदि मन्त्र का विचार चल रहा है। प्रज्ञान, चेत: और धृति—ये तीनों ज्ञानरूप हैं। प्रजाओं में होने वाली आंतर ज्योति इच्छा बतायी तथा कर्म भी जिसके बगैर न हो सके, उसे क्रिया समझना असम्भव नहीं है। प्रज्ञा तत्त्व का आवरण भी करती है लेकिन वही जब लोक के आकर्षण से छुड़ा ली जाये तब आत्मतत्त्व की तरफ ले भी जाती है। उस प्रज्ञा का पहला अंग विवेक ही अतिदुर्लभ है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा है कि अनेक मनुष्यों में कोई एक ही विवेकी होता है। यह बारह सौ वर्ष पूर्व कहा था! पाँच हज़ार वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण का अनुभव भी यही था—

**'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।**
**यततामपि सिद्धानां कश्चिद् मां वेत्ति तत्त्वतः'॥**

वशिष्ठ ऋषि श्रीराम से कहते हैं (यो.वा.नि.उ. ९७.२५ आदि)

**'जातौ जातौ कतिपये व्यपदेश्या भवन्ति ते।**
**येषां यान्ति प्रकाशेन दिवसा भास्वतामिव॥**

**अधश्चोर्ध्वं च धावन्तः चक्रावर्तविवर्तनैः।**
**सर्वे तृणवद् उह्यन्ते मूढा मोहभवाम्बुधौ'॥**

कोई ही इस उपदेश के योग्य होता है। इस आत्मतत्त्व को समझने की सच्ची प्रवृत्ति करने वाला प्रत्येक जाति में कोई-कोई होता है। संसार में असंख्य चक्र हैं। उन्हीं में जीव कभी ऊपर दौड़ते हैं, कभी नीचे अतः परमात्मा की ओर जाना सरल नहीं होता। तिनके की तरह इस भवार्णव में मोह से, मूर्खता से, जडभाव को प्राप्त हो अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति को खो देते हैं। यह वास्तव में मोह की सामर्थ्य है। साहसी ही दुष्ट का दमन कर सकता है। कोई शिकायत आई, पिता ने देखा कि दोषी मेरा ही बेटा है, तो दोषी को दण्डित करने की बहादुरी लुप्त हो जाती है, दण्ड नहीं दे पाता। मोह बुद्धि को ढक देता है। **'नष्टात्मस्थितयो भोगवह्निषु प्रज्वलन्त्यलम्'** भोग में जलने वाले देव भी होते हैं। 'आज मुझे यह भोग मिला, कल वह मिले। आज ट्रांजिस्टर मिला, कल टेलीवीजन मिले' यों हम भोगरूप आग में जलते रहते हैं। आत्मविषयक ज्ञान है फिर भी अनात्मा की तरफ फिसल जाते हैं। जो आदमी कार्य को गलत जान कर भी प्रवृत्ति करता है वह भोगरूप वह्नि (अग्नि) से अपने को नहीं बचा पाता। मान लो, निर्णय किया कि प्रातः चार बजे उठेंगे। ठंडी हवा चलते ही भोग-वह्नि में जल गये कि 'आज तो सो लें, कल देखेंगे'! उनका ज्ञान गीले पेड़ में लगी आग जैसा है जिससे धुआँ निकलेगा, गरमी नहीं मिल पायेगी। ज्ञानाग्नि से धुआँ ही निकलता है अर्थात् कहने को बहुत-कुछ मालूम रहता है मगर जीवन उस ज्ञान से प्रेरित नहीं हो पाता। देवों में भोग की प्रधानता रहती है—अतः आत्मा की तरफ दृष्टि करते भी हैं पर भोग-दृष्टि नहीं हटती। इसी प्रकार दानव मद-सम्पन्न हैं। स्वयं को **'ईश्वरोऽहं, अहं भोगी, सिद्धोऽहं, बलवान् सुखी'** समझते हैं। यह मद का लक्षण है। यह भी आत्मच्युति का कारण है। गन्धर्व कला-प्रेमी होते हैं। कला से मुग्ध होकर विचार नहीं कर पाते। अपनी

विद्या का मोह स्वयं को मोहित करता है जैसे वैज्ञानिक; वे स्वयं अनुभव करते हैं, 'यह आविष्कार, ज्ञान, नुकसान का है', लेकिन उसे प्रकाशित करने से नहीं रुक पाते, हेय-उपादेय का विवेक नहीं रख पाते। इसी तरह आज के साहित्यिकों का नारा है 'साहित्य का उद्देश्य कुछ नहीं हैं'! निरुद्देश्य साहित्य को वस्तुतः साहित्य कहना छोड़ देना चाहिए क्योंकि *साहित्य* में *हित* का भाव ज़रूरी है। किन्तु यह तथ्य स्फुरित होने पर भी कल्पना के रस में आसक्त हो विद्यावान् इसे प्रकट नहीं करते। सामान्यतः लोगों को तो भोजन की चिन्ता से ही फुर्सत नहीं! धोती आई तो कमीज नहीं, कमीज है तो धोती फटी हुई। रात-दिन केवल कणों का संग्रह करने के लिये संचरण करते रह जाते हैं। वास्तव में दरिद्रता हृदय का धर्म है, बाहर के पदार्थों का अभाव नहीं। मानव पर्याप्त भोग होने पर भी असन्तोषवश संग्रह करता रहता है। जैसे चींटी निरन्तर इकट्ठा करती रहती है वैसे सामान्य जन हो जाते हैं अतः वहाँ भी विवेक दुर्लभ है।

जलाशय में कोई आदमी गिर गया, कष्ट पा रहा है। कोई कहे 'डोरी डाली है उसे पकड़ लो' लेकिन वह सोचे 'कहीं टूट गई तो'? तब उसका बचना असम्भव है। सर्वनाश की परिस्थिति आने पर भी अविवेकी सहारे को नहीं पकड़ता क्योंकि शंका करता रहता है कि 'यदि वह सहारा भविष्य में टूट गया तो'? यह विवेक न होने की स्थिति है।

**'विवेकिनो विरक्ता ये विश्रान्ता ये पदे पदे।**
**तेषां तनुत्वमायान्ति लोभमोहादयोऽरयः'** ॥

यदि विवेक से प्रज्ञा आ गई तो वशिष्ठ जी बताते हैं (९८.१) कि उसी क्षण परमात्मा में विश्रान्ति मिल जाती है फलतः लोभमोहादि शत्रु कम हो जाते हैं। ऐसा हो तो पता लगता है कि विवेक आ रहा है। कार्य ठीक है या ग़लत है यह समझ विवेक है। बहुत से लोग विवेक कर भी लें तो निर्णय नहीं कर पाते जबकि विवेकी को निर्णयात्मक ज्ञान होता है। सज्जन पुरुष लोभ-मोह के अभाव में शास्त्र-विरुद्ध कार्यों में रति नहीं करते। उनकी प्रवृत्ति जनता का पाप-प्रयुक्त दुःख हटने में निरन्तर होती है। वशिष्ठ जी ने (निर्वा.उ. १८.८) **'जनतादुःखहारिणः'** नहीं कहा क्योंकि शराबी को शराब

दिलाना भी दुःख हरना है! उन्होंने **'जनता-पाप-हारिणः'** अर्थात् पापप्रयुक्त दुःख को हटाना कहा है। आज तो यह सरलता से लोगों को खुश करने का रास्ता है कि पाप बढ़ने दिया जाये, तात्कालिक प्रसिद्ध सुविधाएँ प्रदान कर दी जायें। यह कैन्सर आज घर-घर घुस गया है। मेरा लड़का मेरे ही पैसों से दुष्कर्म करता है। होटलों में खाता है तो क्या पैसा डाका डाल कर लाता है? हम अपने घर को फूँक कर तमाशा देख रहे हैं। कहते हैं 'क्या करें, पैसा तो देना ही पड़ता है, कहीं लड़का बुरा न मान ले'। उसका स्थायी नुकसान भले ही हो, इस समय मुझसे खुश रहे—ऐसी तुच्छ दृष्टि आज माता-पिता तक की हो चुकी है। विवेकी समझता है कि जो दुःख हो रहा है उसकी निवृत्ति आवश्यक है। वह दुःख फिर न हो इसके लिये पाप से बचाना ज़रूरी है। वशिष्ठ जी जनता के पक्ष में बड़ी बात लिखते हैं कि विवेकी सभी का क्षोभ नहीं होने देते जैसे पहाड़ भूकम्पों पर नियन्त्रण रखते हैं। इसके लिये वे राजा को भी भंग करने में घबराते नहीं। बुद्धि के सहारे धैर्यपूर्वक वेन जैसे राजा का भी अन्त होता है। देशभंग से चित्त आकुल होना स्वाभाविक है किन्तु जनता में पाप सहन नहीं होता। इस कार्य के लिये कठिनाइयाँ अवश्य सहन करते हैं। अविवेकी का कहना है कि 'मेरे भाग्य में जो लिखा है वह होगा ही। यह संसार तो जैसे चलना है वैसे चलेगा ही, अपने क्यों फँसे?' विचारशील भी कठिन परिस्थितियों में मौन ग्रहण कर विजन देश को चले जाते हैं। लेकिन (श्लो. १७) **'इत्यन्तः कल्कमासाद्य न स्थेयं गर्तकीटवत्'** अन्तःकरण के कल्क, दोष, प्रमाद का सहारा लेकर गड्ढे में पड़े कीड़े की तरह जीवन मत बिताओ! बिना विवेक के यह हितसाधन का काम नहीं होगा। भोग-मद न हो, बाह्य खान-पान में प्रवृत्ति न हो, मोह न हो, कार्य-अकार्य का विचार हो, निर्णय लेने की सामर्थ्य हो, विरुद्ध कार्य से विरत हो, ऐसे सज्जन पुरुष पाप से होने वाले दुःखों को दूर करते हैं। वे धैर्यपूर्वक विक्षोभ रूपी भूकम्प करने पर भी स्थिर रहते हैं। यदि यह सब प्रयत्न न करें तब अन्दर होने वाले पापों का सहारा लेना पड़ता है। विवेकी सदा ध्यान रखता है कि शास्त्र की मर्यादा क्या है और वह व्यवहार में कैसे आये। कुछ लोग व्यवहार में शास्त्र भूलते हैं, कुछ शास्त्र को व्यवहार में प्रकट नहीं करते किन्तु जो विवेकी हैं, प्रज्ञावान् हैं वे अपने व्यवहार द्वारा शास्त्र को व्यक्त

करके प्रतिक्षण सबको वास्तविक आह्लाद देते हैं। इस प्रकार कल विवेक को ढाँकने वाली प्रज्ञा बताई थी, आज उसको खोलने वाली प्रज्ञा बताई।



## प्रवचन सप्तम (१४.०९.१९६९)

परमात्मा के जिस स्वरूप का प्रथम मन्त्र में प्रतिपादन किया, द्वितीय में उसे कैसे अभिव्यक्त किया जाये यह बताया। उसका मूल **'यक्षमन्तः प्रजानां'** होने के प्रकार को तीसरे मन्त्र में बता रहे हैं। प्रज्ञान पर विचार किया कि वह दो प्रकार का है—एक जो आत्मतत्त्व को उद्घाटित करता है, दूसरा वह जो उसे ढाँकता है।

चेतः शब्द चिति संज्ञाने धातु से बनता है। हृदय, मन की अनुभूति का आकार संज्ञान है। हृदय के द्वारा आत्मा का ग्रहण यहाँ चेतः-पद से कहा।प्रायः लोग परमात्मा को बुद्धि से ग्रहण करने पर भी हृदय से ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। बुद्धि से ग्रहण करना भी कठिन है, पर ऐसा होने पर भी हार्दिक अनुभूति न होने से उसकी ओर नित्य निरन्तर प्रवृत्ति नहीं हो पाती।

**'लौकिकप्रज्ञया यस्मात् मेधया पिहितस्ततः।**
**नोपासते पराक्चित्ताः त्वां देवममृतप्रदम्'** ॥

परमात्मा यद्यपि अमृत देने वाले हैं, सब प्रकार की मृत्युओं से बचाने वाले हैं तथापि लौकिक प्रज्ञा से ढके होने के कारण बहिर्मुख लोग उनकी उपासना नहीं करते। मृत्यु, कालविशेष की एक घटना-विशेष नहीं है। वेद प्रतिक्षण दुःखानुभूति को ही मृत्यु मानता है। समग्र दुःखों का अभाव ही अमृत है। ऐसे अमृत के प्रदाता देव की हम उपासना नहीं करते अर्थात् हृदय से ग्रहण न होने के कारण उसे अपने अन्दर बैठाते नहीं।

विद्वानों के लिये दूसरी दृष्टि से विचारणीय है। 'प्राचीनकाल में भारत में लिखने की कला नहीं थी, अतः ग्रन्थ कण्ठ करते थे' ऐसा आधुनिक

विदेशी कहते हैं! ऋग्वेद का (१०.७१.४) यह मन्त्र उनका खण्डन करता है—

**'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं उत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।**
**उतो त्वस्मै तन्वं विसस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः'॥**

यहाँ 'पश्यन्' का अर्थ वाणी द्वारा *देखना* है। इसका अर्थ 'सुनना' नहीं ले सकते क्योंकि 'शृण्वन्' दूसरे पाद में ही आया है। कई मनुष्य उसी वाणी को देखते हुए भी नहीं देखते। क्यों? अन्तःकरण में संस्कार नहीं होने के कारण। बगैर निहित संस्कार के सामने आने पर भी वह चीज़ हृदय को स्पर्श नहीं करती।

दूर किसी गाँव में पूछो कि 'रेफ्रिज्रेटर' लोगे या एक नया हल लोगे? हल चार सौ रुपये में आयेगा, रेफ्रिज्रेटर पाँच हज़ार रुपये में आयेगा। ग्रामीण कहेगा 'हल लूँगा।' फिर पूछेगा 'यह 'फ्रिज' क्या होता है?' उसके अन्दर फ्रिज के संस्कार नहीं हैं इसलिये सुनकर भी समझता नहीं। इसी प्रकार जिसमें परमेश्वर के संस्कार नहीं होते वह तो कहेगा 'संसार लूँगा', फिर पूछेगा 'परमेश्वर क्या होता है?' यदि बताओ कि जिसके आने से सारे संसार के पत्नी, बच्चे आदि उड़ जाते हैं वह परमेश्वर है, तो कहेगा 'तुम्हारे परमेश्वर से मेरा संसार अच्छा है—यहाँ पत्नी-बच्चे तो हैं!' बार-बार सुनने पर भी कुतर्कदूषित अन्तःकरण सुनने नहीं देता। अपनी बुद्धि का कुतर्क इहलोक एवं परलोक दोनों ही नष्ट करता है। विचारशील तर्क का प्रयोग लाभ के लिये करता है, कुतर्की नाश के लिये। इसीलिये भाष्यकार ने कहा **'दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्'**। छुरे के दोनों प्रयोग हैं—दुश्मन को नष्ट करना अथवा अपनी गर्दन काटना। मूर्ख लोग उसे अपनी छाती में भोंक कर आत्महत्या करते हैं! विचारशील उसका प्रयोग दुश्मन को दंड देने में करते हैं। इसी तरह तर्क के दोनों प्रयोग हैं, हितसाधन करना भी और हितखण्डन करना भी। जीवन में अच्छी चीज़ लाना सत्तर्क है, जीवन में आई अच्छी चीज़ को काटना कुतर्क है। एक व्याध (शिकारी) चिड़ियों, हरिणों को पकड़ता और मार कर बेच देता था। एक तालाब में कई बत्तखें थीं। उसने विचारा 'आज माल बटोरूँगा'। वह पानी में घुसा किन्तु बाकी सब उड़ गयीं,

उसके हाथ में एक ही आयी। उसने झट पकड़ा, गर्दन नोची और पेड़ के नीचे आराम करने बैठा। तालाब में बत्तखें वापिस आ गयीं। वहाँ एक महात्मा आये। उन्होंने कपड़े खोले पर बत्तखें वैसे ही खड़ी रहीं। उन्हें हटाने को पानी फेंका किन्तु वे नहीं गयीं। इस घटनाक्रम पर शिकारी की दृष्टि पड़ी, उसने समझा कि यह गौरिक वस्त्र, भस्म तथा रुद्राक्ष का प्रभाव है कि बत्तखें उड़ती नहीं। दूसरे दिन वह महात्मा वेष में आया, बत्तखों ने समझा महात्मा है। उसने झट कपड़े से आठ-दस पकड़ लीं! दूसरे दिन फिर जाकर ऐसा ही किया। तीसरे दिन बत्तखें समझ गयीं कि वह शिकारी है। उसके पास अपना भस्म, रुद्राक्ष तो था नहीं, महात्मा से लेकर आता था। वह महात्मा के पास डंडा लेकर गया, कहा कि 'झूठा भस्म-रुद्राक्ष दिया है! भस्मी की डिब्बी के ऊपर वाला भस्म तो सच्चा था, नीचे वाला काम नहीं देता। रुद्राक्ष धुल गया है, अब वह काम नहीं करता'। महात्मा ने समझाया कि माला तो जपने के काम की है! किन्तु वह बोला 'यह तो बत्तखों को पकड़ने की दवाई है। अब असली माल निकालो'। असली माल तो हृदय में था। अन्तःकरण में बत्तख पकड़ने की भावना नहीं थी अतः महात्मा से बत्तखें क्षुब्ध नहीं होती थीं। यह व्याध का कुतर्क था कि भस्म-रुद्राक्ष बत्तख पकड़ने का नुस्खा है। तर्क यह है कि हम महात्मा की तरह अन्तःकरण में शुद्ध बनें।

इसी प्रकार, भारत के व्यापारी बोतल और ट्रेड मार्क की पक्की नकल करते हैं! पैकिंग की नकल कर लेते हैं किन्तु अन्दर के माल की नहीं। जापान ने नाम की नकल नहीं की, बोतल की भी नकल नहीं की पर अन्दर का माल इंगलैंड जैसा या उससे भी अच्छा बनाया। हमारा माल तीन दिन चला फिर कोई माल खरीदने को तैयार नहीं। इसी प्रकार कुतर्कियों ने वेदान्त की 'पैकिंग' ले ली किन्तु अन्दर माल नदारद था अतः उनके उपदेश राष्ट्रप्रेरक नहीं बन सके जबकि वेद अनादि काल से निरन्तर सभी का मार्गदर्शन करता जा रहा है।

मन्त्र में एक साहित्यिक दृष्टांत से समझाया कि परमात्मा का दर्शन किसे होता है। जैसे सामान्यतः आच्छादित रहने वाली पत्नी उत्कट इच्छा होने पर पति के लिये रूप प्रकट करती है वैसे परमात्मा भक्त को दर्शन देते हैं। अर्थ रूप की तरह है, शब्द उसके आच्छादन की तरह है। जैसे पतिभिन्न

लोग हार्दिक अनुभूति वाले न होने से आच्छादन ही देखते हैं, पति ही हार्दिक प्रेमवश रूप देखता है, वैसे जिसे परमेश्वर से हृदय से प्रेम नहीं वह शब्दों तक ही गति रखता है जबकि भक्त उनके अर्थ का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है। वासनाएँ शुद्ध होकर जब परमेश्वर की तीव्र इच्छा स्थायी हो तभी **'विवृणुते तनूं स्वाम्'** परमेश्वर अपने स्वरूप का अनावरण करते हैं। संसारी जीव लौकिक पदार्थों की निरन्तर वासना बनाता है, परमात्मविषयक चिन्तन एक घंटा भी नहीं कर पाता। शरीर से सांसारिक व्यवहार, मन से विषय-चिन्तन, वाणी से संसार का वर्णन करता है तो तद्विषयक इच्छायें अधिक से अधिकतर, अधिकतर से अधिकतम होती चली जाती हैं। परमात्मा की वासना अर्थात् उसमें स्थिति नहीं होती अत: उसकी इच्छा होना अतिदूर की बात है।

प्राचीन काल में तीन योगी थे—तनुगिरि, ब्रह्मपुरी तथा भारती। वे परमात्मा के मार्ग में लगे हुए थे। नित्य भ्रमण करते थे। तनुगिरि कामरूप (आसाम) में, ब्रह्मपुरी काश्मीर में, भारती केरल (दक्षिण) में पैदा हुए थे। पूर्व, उत्तर, दक्षिण में जन्मे तीनों निरन्तर परमेश्वर का चिन्तन करते थे। उनका जीवन पवित्र था। राजाओं ने प्रलोभन दिया 'हमारे देश में सुख से रहो', लेकिन उन्हें नहीं जँचा, वे निरन्तर भ्रमण करते रहे। एकदेशीय होने से सर्वत्र की दृष्टि कम हो जाती है। कूप-मंडूक न बनें इसलिये सनातन धर्म में तीर्थयात्रा पर बल है। 'हमारे ही गाँव की वेश-भूषा, आभूषण, चलन ठीक हैं, भिन्न देश का रहन-सहन ग़लत हैं' इत्यादि समझना कूपमंडूकता है। परिछिन्न भाव वाला बाहरी पदार्थों में अधिक सत्यता देखता है, अन्त:करण की भावना नहीं देख पाता। बाह्य आचारों का भेद होने पर भी परमात्म-सम्बन्धी भीतरी हृदय वही देख पायेगा जो भ्रमण करता रहेगा।

तीनों काशी पहुँच गये। विश्व का सबसे प्राचीन जीवित नगर काशी है। उन्होंने गंगा-स्नान किया, विश्वनाथ का पूजन किया, भोग खाया। आपस में उनका परिचय नहीं था। रात्री की आरती का दर्शन किया। पंडों ने कहा 'जाओ, जाओ। अब समय हो गया'। पंडों ने देखा था कि केवल पानी चढ़ाते हैं सोना-चाँदी कुछ नहीं! उन्होंने सोने का स्थान पूछा, पंडे कहने लगे वहाँ से निकलते हो या नहीं? [illegible]

कितने दोगे? कुछ नहीं है तो जाओ, यह काशी है'! गंगा के किनारे एक छोटा शिव-मन्दिर था। वहाँ कोई नहीं था, ब्रह्मपुरी जाकर वहाँ लेट गए। श्रावण का महीना था, पानी ज़ोर से बरसा। दरवाज़े पर खटका हुआ। किसी ने पूछा 'अन्दर कौन है? आने की जगह है?' पुरी बोला 'लेटने के लिये एक की जगह है, हाँ बैठ दो सकते हैं'। दोनों बैठ गये और भगवत्-चर्चा शुरू हो गई। फिर किसी ने खटखटा कर कहा 'अन्दर आने दो'। उन्होंने कहा 'यहाँ दो बैठे हैं किन्तु खड़े होने की तीन की जगह है अत: आ जाओ'। खड़े-खड़े परमात्म-विचार होने लगा। इतने में धक्का देकर कोई चौथा बीच में आ गया! तीनों कहने लगे 'धक्का कम दो।' वहाँ तीव्र प्रकाश हुआ, भगवान् शंकर प्रकट होकर कहने लगे 'एक-साथ दर्शन देकर अब तुम्हारा आपस में परिचय भी करा दूँ'। वे खड़े-खड़े परमात्मविषयक विचार करते रहे थे, एक-दूसरे से यह भी नहीं पूछा था कि तुम कौन हो? हम लोग मुलाकात होने पर दुनिया-भर की बातें करते हैं! दुकान का काम कैसा है, इनकम टैक्स कैसे बचाते हो, नौकरी में, घूस कैसे लेते हो इत्यादि विचार करते रहते हैं किन्तु धर्म या परमात्मा के बारे में नहीं सोचते हैं। दुकान बढ़ाना कर्त्तव्य मानते हैं, जिस धर्म में पैदा हुए उसका विचार कर्त्तव्य नहीं मानते। पूजा-ध्यान की बात ही नहीं करते। विषय-चर्चा तो अपने आनन्द के लिये करते हो, सत्संग अपने मोक्ष के लिये करना चाहिये। 'कैसे धर्म आगे बढ़े? परमात्मा के प्रति मेरा कर्त्तव्य क्या है?' इस विचार से ही हित सम्पन्न होगा। उन तीनों महात्माओं ने सारा विचार परमात्म-विषयक किया, इसके अलावा आपस में परिचय भी नहीं प्राप्त किया! फलत: देखते ही देखते सब कुछ प्रकाशरूप हो गया, दिव्य प्रकाश व्याप्त हो गया मानो भौतिक देह रहा ही नहीं। घड़ीयाल की आवाज़ में घंटी का या सूर्य के प्रकाश में बल्ब का आस्तित्व ही जैसे गायब हो जाता है वैसे परम शिव के प्रकाश में उनकी सत्ता नहीं-सी रह गई। थोड़ी देर बाद कुछ भान हुआ तो भगवान् ने कहा, 'वरदान माँगो'। उन्होंने प्रार्थना की 'ऐसी एकता का ही निरन्तर अनुभव करते रहें। हम तीनों के मिलने से आपका दर्शन हुआ तो हम तीनों की स्थिति पूर्ण होवे'। परमात्मा में एकता की स्थिति माँगने के कारण तीनों जीवन्मुक्ति का अनुभव करते रहे, अभेद दृष्टि बनी रही। भगवान् ने निर्देश दिया, सर्वत्र

लोगों को वेदवाणी समझा कर मेरे धाम में जब आओगे तब भेद-दृष्टि भी गायब हो जायेगी'।

तनु अर्थात् अल्प शरीर की क्रियायें। ब्रह्मपुरी अर्थात् हृदय के अन्दर के अनुभव अर्थात् इच्छा। भारती अर्थात् ज्ञान; 'भा' मायने प्रकाश होता ही है। कामरूप में तनुगिरि पैदा हुआ। कामनाओं से पदार्थों का रूप सामने आना क्रिया है। सामने अशर्फी है, कामना हुई कि कड़ा बना दें तो क्रिया से कड़ा बना। 'काश्मीर' में 'काश्' मायने प्रकाश। जिस प्रकाश से मापा जाये वह 'काश्मी', उसमें रमण है काश्मीर। जो जाना, उसे हृदय में अच्छी तरह धारण करके उसमें रमण करना ही काश्मीर में ब्रह्मपुरी का पैदा होना है। यहाँ कुतर्क कभी नहीं उठेगा। द्वेष के छिपे होने से ही कुतर्क आता है। पड़ौसी ने एक बार गाली दी तो उसके प्रति द्वेष हो गया। कालक्रम से उसके पास धन आ गया। द्वेषी सोचता है 'इसकी दुकान तो छोटी है, अवश्य ही स्मगलिंग करके धन कमाया होगा'! यह द्वेष से दूषित कुतर्क है। बाद में भले ही पता चले कि उसकी यहाँ लाटरी निकली है। कुतर्क सदा ही द्वेषमूलक होता है। दूसरी तरफ, मेरा लड़का दुकान में डेढ़ सौ रुपये में नौकरी करता है; उसके हाथ में ट्रांजिस्टर देखा तो तर्क करता है कि मालिक ने दिया होगा क्योंकि यह मेहनती है। अफसरों और व्यापारियों से बात करके देखो : व्यापारी कहते हैं कि अफसर घूस खाते हैं, इनसे देश बर्बाद हो गया। अफसर कहते हैं कि व्यापारी टैक्स की चोरी करते हैं। 'केरल' में 'केर' का अर्थ 'केला' है। र-ल का आपस में एक-दूसरे की जगह प्रयोग हो जाता है। संसार केले का वृक्ष है। उसके तने का एक-एक छिलका छीलो अन्त में कुछ नहीं बचता। संसार कदलीवत् निस्सार है। उसके 'अन्त' में कुछ नहीं। यदि ज्ञान, इच्छा, क्रिया अपने-अपने रास्ते अलग-अलग चलें तो परमात्मदर्शन नहीं हो पाता। चाहते हैं लड़का सत्संग करे किन्तु उसे ला नहीं सकते इत्यादि ज्ञान, इच्छा, क्रिया में भेद रहता है।

किसी समय काशी अर्थात् एक ही हृदय में तीनों को लाओ तो जगह कम लगेगी। वस्तुतः शिव में ही तीनों एक-साथ हैं। अभी हमारा ज्ञान इन्द्रियों को प्रशांत नहीं करता। ज्ञान सीमित अनुभव करता है इच्छा सीमित की होती है। तीनों मिलने तो हमेशा [illegible] रहना [illegible] भेद के [illegible]

**'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत'**। तीनों इकट्ठे हों तब परमात्मा का प्रादुर्भाव होगा। तब भी तीनों अलग-अलग से लगते हैं जबकि सत्य है—

**'शिवः कर्त्ता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्।**
**शिवो यजति यज्ञश्च सोऽहमस्मि सदा शिवः'॥**

सत्य अभिन्न है। जीवनपर्यन्त भेद प्रतीत होने पर भी प्रारब्ध का क्षय होते ही यह भेद जो दीख रहा है, वह भी नहीं दीखेगा। अभी हम कथा सुनते हैं पर हृदय नहीं सुन पाता अतः वेद का तात्पर्य स्फुट नहीं हो पाता। क्योंकि हृदय बाहर की ओर, संसार की ओर फेंक रखा है—इसलिये महादेव की उपासना नहीं कर पाते तो स्वरूपसाक्षात्कारपूर्वक निष्ठा की सम्भावना नहीं इसमें क्या कहना।



## प्रवचन अष्टम (१५.०९.१९६९)

परब्रह्म परमात्मतत्त्व की तीन प्रकार की शक्तियों के उद्बोधन के द्वारा उसकी पूर्णता का संकेत किया। तत्त्व को हृदय के द्वारा ग्रहण करना है अन्यथा सुनने पर भी वह तत्त्व हृदयंगम नहीं होता, बुद्धि से समझ लेने पर भी अनुभूति के क्षेत्र में नहीं आता। उसको ग्रहण कैसे करें? ज्ञान-इच्छा-क्रिया तीन प्रकार के कार्य हैं जिससे मनुष्य संसार के अन्दर जाता है, तीनों का एकत्रीकरण हो जाए तो परमात्मा का ग्रहण सम्भव है। ऋग्वेद (५.४२.११) कहता है—

**'तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य।**
**यक्ष्वामहे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य'॥**

'उ' अर्थात् केवल 'तम्' परमात्मा की 'स्तुहि' स्तुति करो। अभी वाणी यदि परमात्मा की स्तुति करती भी है तो केवल उसी की नहीं करती। शरीर जुगुप्सित वस्तु है। सभी का शरीर मूत्रद्वार के अतिरिक्त कहीं बाहर से नहीं आया! उसका उत्पत्तिस्थान घृणित तथा मल-मूत्र से भरा होने के कारण भी शरीर घृणित। जिस अन्नादि की स्तुति करते हैं उसका मूल भी विष्ठा है।

रजत-स्वर्ण आदि जड होने के कारण स्तुति के योग्य क्या बन सकते हैं! अच्छे से अच्छा मकान बालू-सीमेन्ट रूप होने से स्तुति के योग्य नहीं। अतः कहा है—

**'यदि चिकीर्षसि सौहृदमात्मनः**
**परिजिहीर्षसि यद्यघबन्धनम्।**
**यदि तितीर्षसि संसृतिसागरम्**
**श्रय मयस्करमीश्वरसेवनम्'** ॥

यदि अपने प्रति सुहृद्भाव दिखाना चाहते हो तो शरीर का उपकार हम क्यों करें जो दुःख देता है? मन का उपकार क्यों करें जिसने बन्धन में डाल रखा है? इनके साथ क्यों सुहृद्भाव रखें? सुहृद् मायने बिना कारण दूसरे का उपकार करने वाला। शरीर-मन अनेकों सालों से साथ चल रहे हैं किन्तु हमारा उपकार नहीं कर पाये। वास्तव में देह-मन का कल्याण केवल ईश्वर-स्तुति से ही सम्भव है। यदि जन्म-मरण के चक्र से पार जाना चाहते हैं, पापों के कारण होने वाली जगत्-प्रतीति को हटाना चाहते हैं तथा राग-द्वेष आदि को दूर कर देह-मन का कल्याण करना चाहते हैं तो ईश्वर की स्तुति ही एकमात्र उपाय है।

**'यत् स्विषु सुधन्वा'** भगवान् धनुष-बाण वाले हैं। सामान्य धनुष-बाण बाहरी शत्रुओं का नाश करते हैं जबकि सच्चे शत्रु तो हमारे अन्दर रहने वाले हैं। यदि अन्दर राग-द्वेष, काम-क्रोध नहीं होंगे तो बाह्य शत्रु कारगर हो नहीं सकते। बाहर के शत्रु को तो मारने का प्रयास करते हैं पर अन्दर के शत्रु का कोई प्रतीकार नहीं करते। परमात्मा की स्तुति अन्दर के विचारों का नाश करती है।

**'यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य'** सारी औषधि वह देता है। 'क्षयति' अर्थात् देता है। अतः भगवान् शंकर के लिये कहा है—**'निधये सर्वविद्यानां भिषजे भवरोगिणां'** भवरूप रोग की वही एकमात्र औषधि है। उसके बाण से कोई नुकसान नहीं होता। परमात्मा के सहारे के बिना राग-द्वेष की निवृत्ति में सफलता नहीं मिलती। साधक के जीवन में शून्यभाव को परमात्मा ही रोकता है। सामान्यतः दूसरी जगह से राग हटाते पर सूक्ष्मता आ जाती है

जिसे परमात्मा ही रोकता है। प्रकृति को, मानव-स्वभाव को भी शून्यता से परहेज है। शून्यता में जीवन नीरस होता है। किन्तु यदि सारे रागों का केन्द्र भगवान् हो तो क्योंकि वह आप्तकाम है, अत: उसकी कामना से सारी अन्य कामनायें समाप्त हो जाती हैं जिससे निश्चित होता है कि चित्त में सिर्फ परमात्मकामना है। मन में पूर्णता संचरित होती है और सौमनस्य का विस्तार होता है।

**'यक्ष्वामहे सौमनसाय रुद्रम्'** प्रश्न उठता है कि वह सुन्दरता कौन-सी है? एअरकण्डीशण्ड, सजे-धजे बढ़िया मकान वाले ने झोपड़ी में रहने वाले को निमन्त्रण दिया। वह मना कर देता है; वह कैसे आयेगा, क्योंकि तुमने चौकीदार से उसके लड़के को पिटवाया था! इसी प्रकार परमात्मा को अपने अन्तःकरण में निमन्त्रण देते हो जबकि करते हो निरन्तर परमात्मा की सृष्टि की हत्या! सबेरे से शाम तक शैतान का राज्य कायम करने का प्रयत्न करते हो तो भला कैसे आयेगा भगवान् हृदय में? उसे बुलाना हो तो मन से सारे कार्य इस प्रकार सोचो कि सृष्टि में परमेश्वर का राज्य कायम हो। जिसका राज्य कायम करना होता है उसके साथ अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ती है। इतिहास साक्षी है कि भारत में ८०० वर्ष तक हिन्दू मुसलमान से लड़ा, उसके घर न खाया न उनके छुए कुएँ का पानी पिया। किन्तु अंग्रेज़ों को निकालने के लिये उन्हीं मुसलमानों को गले लगाया! जब विदेशी को निकालना था तो कटु से कटु घूँट पी गये। अंग्रेज़ हमें अंग्रेज़ी पढ़ाना नहीं चाहते थे। राममोहन राय ने प्रबल प्रयास किया कि हमें अंग्रेज़ी आये क्योंकि अंग्रेज़ी बिना पढ़े हम उन्हें हटा नहीं सकते थे। इस प्रकार प्रबल उद्देश्य के लिये अल्प से दृष्टि हटाई जाती है। परमात्मा की सृष्टि में यदि आसुरी राज्य बढ़ता है तो विशाल दृष्टि का सहारा लेना जरूरी होगा ताकि वैसा हो न पाये। **'नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य'** नमस्कारों के द्वारा उस देव के प्रति अपनी सत्ता को हटाना ही नमन है। अपने को छोटा करोगे तब परमात्मा की सत्ता को उद्भासित करोगे। कपड़ा जब अपना रंग छोड़ेगा तब दूसरे रंग को पकड़ेगा, अन्यथा रंग नहीं चढ़ेगा। अपनी भावनाओं को रखते हुए परमात्मा का रंग नहीं चढ़ेगा, चितकबरा हो जायेगा!

हम करेंगे—यह एक दृष्टि है। दूसरी दृष्टि है, परमात्मा करेगा। किन्तु होता क्या है? जिसे हम नहीं करना चाहते उसके लिये सोचते हैं कि परमात्मा करेगा लेकिन जिसे हम स्वयं करना चाहें उसे हम ही करेंगे। हम पूछते हैं 'बहुत दिनों बाद सत्संग में आये?' उत्तर मिलता है 'आपने जब खींचा तब आ गये'। फिर तो यहाँ बैठे रहो! तब कहता है, 'दुकान खोलनी है'। दुकान तो मैं खोलूँ और सत्संग में हम खींचें! यही मन का चितकबरापना है। यदि कहो, 'धर्म का उद्धार आवश्यक है' तो उत्तर मिलेगा 'भगवान् करेंगे'। देश में यदि अन्न की कमी है तो कहेंगे दैवी प्रकोप है। अनाज पूरा हो गया तो? 'हमारी स्कीमों से'! इन दोनों में कोई सामंजस्य नहीं। ऐसे ही मानते हैं कि मुझे अपने घरवालों के लिये खुद कमाना है, समाज के लिये कार्य भगवान् करायेंगे। यदि ईश्वर की आज्ञा से करोगे तो क्षणभर भी उल्लंघनीय नहीं है। व्यापारी ने मुनीम से कहा कि एक भाव से चीज़ बेचना। उसने पाँच की चीज़ नौ में बेचकर कैशमिमो काटा तो मालिक मना करेगा। अर्थात् जो मालिक ने कहा तदनुकूल आचरण करना है, अपनी बुद्धि से हेर-फेर नहीं करना है। इसी प्रकार परमेश्वर की आज्ञा से वेदानुकूल चलना है क्योंकि संसार उसका है, इसकी सुरक्षा उसकी जिम्मेदारी है, यदि उसकी आज्ञावश संसार चला भी जाए तो मेरा क्या! 'मैं करने वाला हूँ' मानते हो तो परमेश्वर केवल फल देगा। परमात्मा देव भी है, असुर भी है! असुर अर्थात् बलवान्; असु मायने प्राण, जो प्राणों में रमण करे वह असुर। परमशिव प्राणों में रमण करते हैं। आज संसार प्राण-प्रेमी ही है। परमेश्वर ज्ञान देने वाले 'देव' भी हैं। यदि उनसे प्रेम करते हो तो परमात्मा प्राणों में रमण कर रहा है ऐसा जानकर तुम्हारा सब बल परमात्मा की तरफ लगेगा। यदि परमात्मा की तरफ अन्तःकरण लगाओगे तो वह देव बनेगा, ज्ञान से प्रकाशित करेगा। कर्मफलदाता होने के कारण दैवी गुणवाले के लिये देव, राक्षसी प्रवृत्ति वाले को बलपूर्वक दण्ड देने वाला होने से असुर—दोनों है।

असंचिन्तित ऐसी चिन्ताओं का मन चिन्तन करता रहता है जिनका हम से कोई मतलब नहीं। अनुभूत विषयों को मन में खींच-खींच कर संसार की वासनाओं से उसे भरता रहता है। हम मोटर में जा रहे थे। यमुना किनारे लड़का लड़की हाथ पकड़े चले जा रहे थे एक सज्जन साथ में बैठे थे, बोले

'ज़माना कितना बिगड़ गया है'। हमने कहा 'ये भाई-बहन आदि भी हो सकते हैं तुम्हारी सोच में बुरी दृष्टि ही क्यों आई?' क्योंकि असंचिन्तित चिन्ताओं को लाने का अभ्यास दृढ है। चित्त हमेशा उल्टा ही सोचेगा। पैर में दर्द है अतः लंगड़ा कर चल रहा हो तो भी कहोगे 'शराब पी कर जा रहा है'। यों हम विचारों से दीन बन गये हैं। दोष बाहर प्रकाशित होता है तो समझ लो कि भीतर उसे पाल रखा है। परमेश्वर की आराधना से ये चिन्तायें दूर होंगी, अतः परमशिव का चिन्तन करो। जिन चीज़ों के विषय में प्रमाण नहीं उनके विचार विश्लेषण अनुसन्धान में जीवन बर्बाद कर देते हैं। दो घंटे तक जो बात मन में आये उसे लिखते चलो, फिर इस फहरिस्त का वर्गीकरण करो कि कितनी चीज़ों से जीवन में लाभ-हानि हो सकती है। पता चलेगा कि सत्तर प्रतिशत से हमारा कोई मतलब नहीं! फिर वर्गीकरण करो कि किनमें प्रमाण है, कौन कल्पित हैं। तीस में से उनतीस चीज़ें उड़ जायेंगी! यों निस्तत्त्व-चिन्तन से मन बन्धन में डालते हैं। इन्द्रियाँ तो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द देख कर निवृत्त हो जाती हैं, मन का ताना-बाना दुःख देता रहता है। अतः मन की शक्ति केन्द्रित करो।

विवेक करो कि कितना प्रत्यक्ष है, कितना परोक्ष। केवल प्रत्यक्ष के आधार पर व्यवहार नहीं चलता। अनुमान के सहारे से सबको व्यवहार करना पड़ेगा। 'मेरा मकान घर से आने के बाद वहीं पर होगा' इस अनुमान के आधार पर ही घर लौटोगे। व्यवहार में अनुमेयता चली गई तो समाधि हो जायेगी! प्रत्यक्ष-परोक्ष का फ़र्क स्मरण रखने वाला बुद्धिमान् है। जो प्रत्यक्ष-परोक्ष को अलग-अलग रख सकेगा उससे भगवान् की परिचर्या हो सकेगी। पाश्चात्य विज्ञान प्रत्यक्ष-परोक्ष को अलग करके समझने की सामर्थ्य रख कर सूचना (डाटा) और सिद्धान्त (थ्योरी) को अलग-अलग सोचता है। अतिप्राचीन काल में श्रुति-स्मृति का भेद था। ज्ञान बताने वाली श्रुति रही, उसकी प्रत्यक्षता को बताने वाली स्मृति हुई। उन्होंने अनुभूति से श्रुति का जो तात्पर्य निकाला उसे स्मृति कहा। अतः श्रुति स्वतः प्रमाण है जबकि स्मृति की प्रमाणता श्रुति पर निर्भर है। श्रुति-स्मृति को मिलाने से विचार गड़बड़ा जाता है। अनुभूति और उसके आधार पर सिद्धान्त ये अलग-अलग बातें हैं। प्रामाणिक अनुभूति गलत नहीं होती, सिद्धान्त बदल सकते हैं। अज्ञान के

समूल नाश का यही उपाय है कि हम श्रुति के चरम तात्पर्य का स्मृति के सहारे अपरोक्ष करें। सत्य और अनृत को मिला-जुलाकर सारा लोक-व्यवहार होगा। किन्तु ज्ञानी तब भी सत्य को सत्य रूप से जानता है, अनृत को अनृत रूप से। सत्ता को ब्रह्मरूप से जानना—यह उसकी दृष्टि व्यवहार में भी लुप्त नहीं होती। यही है सत्यरूप ईश्वर की सेवा करना।



## प्रवचन नवम (१६.०९.१९६९)

परमात्मतत्त्व के व्यक्तीभवन में तीन शक्तियाँ बतायीं। प्रथम के तीन रूप कहे—प्रज्ञान, चेतः, धृतिः। प्रज्ञान और चेतः को समझा चुके। धृति का अन्तःकरण से सम्बन्ध है। प्रज्ञान आत्मतत्त्व को ढाँकता भी है और उद्घाटित भी करता है। आत्मतत्त्व बुद्धि का विषय बनने पर भी हृदय में क्यों नहीं उतरता—यह चेतः से बताया। उतरने पर भी उसमें स्थिति क्यों नहीं हो पाती—यह धृति से बताना है। हृदयंगम होने पर भी तत्त्व धृत नहीं होता, यह निष्ठा में रुकावट है। विश्वकोष कहता है **'धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु'**। धृति अर्थात् योग या चित्त का आत्मा में समाहित होना। अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति योग है। जो अपने पास पहले न हो फिर आ जाये, उसका लाभ योग है। जब हमारे अन्तर में योग हो जाता है तब धृति है। तुम्हें जो अप्राप्त उस समाधि की प्राप्ति धृति है, तिजोरी में धन आ जाना नहीं। दूसरे की लड़की तुम्हारे घर ब्याह कर आई, यह भी योग है। अथवा दूसरे की सम्पत्ति तुम्हें मिल गई, यह भी योग है। तदपेक्षया हृदय में धारण धृति है। धारण करने से ही धैर्य आयेगा। योगान्तर ही धैर्य को देता है। प्रज्ञान और चेतः से जिसे ग्रहण किया उसे हृदय में धारण करना है। अभी हम शरीरात्मदृष्टि से स्वयं को जन्मने-मरने वाला समझ रहे हैं। सत्य है कि अजन्मा अमर परमेश्वररूप पर्दे पर विकारों समेत शरीरादि संसार भास रहा है। भींत पर मढे चित्रों जैसे जन्मादि आत्मा में प्रतीयमान हैं। बाइस्कोप में वर्षा देखकर छाता खोलने की तरह हम वास्तव में स्वयं को देहादिरूप, विकारी, परिच्छिन्न समझ रहे हैं। वास्तव में यदि मूर्त कोई पदार्थ होता उस संवित से

अतिरिक्त, तो जगत् पैदा भी हुआ होता। आज तक केवल चिन्मय की ही प्रतीति है। **'तस्मात् प्रतीतिरेवेत्थं कर्त्री भोक्त्री च सा शिवः'** संवित् ही कर्ता-भोक्ता रूप से प्रतीत होती है। उसी से सारे पदार्थ हैं, उसी में सारे पदार्थ हैं। वही समग्र पदार्थों को धारण करती है। इस ज्ञान को धारण करना **'धृत्या यया धारयते'** (१२.३३) इत्यादि से गीता में सात्त्विक धृति कहा गया है। समाधि के अभ्यास से मन, इन्द्रियाँ, प्राण सबको धारण करना है। सात्त्विक धृति अव्यभिचारी अर्थात् कभी न बदलने वाली है, अतः समाधि में कभी फ़र्क नहीं आता है। भाष्यकार उसकी व्याख्या में कहते हैं कि सात्त्विक धृति इन्द्रियादि की उच्छास्त्र अर्थात् शास्त्रविरुद्ध प्रवृत्तियाँ रोके रखती है। ऐसी धृति नित्य समाधि से अनुगत रहती है, बाकी समाधियाँ कुछ समय तक ही अनुगत रह सकती हैं। शास्त्र मार्ग को छोड़ने का एकमात्र कारण है कि अभी परमात्मा को धारण नहीं किया है। सात्त्विक धृतिसम्पन्न के मनः-प्राण-इन्द्रियों से शास्त्रविरुद्ध क्रिया हो ही नहीं सकती है। जैसे व्यापारी न मन से सोचता है कि घाटा हो जाए, न इन्द्रियों से ऐसा काम करेगा कि घाटा हो जाए, इसी प्रकार सात्त्विक धृति-सम्पन्न का कोई यत्न शास्त्रविरोध के लिये नहीं होता है। चित्त में अर्थरूप प्रयोजन धृत है तो व्यापारी का एक क्षण को भी उससे विपरीत व्यवहार नहीं होगा, इसी प्रकार परमेश्वर भीतर धृत है तो शास्त्रोल्लंघन नहीं होगा। परमात्मनिष्ठा में विरोध कर सके ऐसी वृत्ति उस साधक की बनती ही नहीं। ऐसे व्यक्ति की सोच होती है कि 'भोग के पदार्थ एकत्रित करने में मेरा क्या प्रयोजन! क्योंकि वे शरीर को विषय करते हैं, मुझे नहीं। मुझे तो आत्माराम बनना है'। इस प्रकार परमात्मतत्त्व को धृत करना सात्त्विक धृति है।

आगे भगवान् ने उससे भिन्न धृति भी बताई। राजसी धृति—

**'यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।**
**प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी'** ॥

धर्म, काम, अर्थ को धारण करने वाली राजसी धृति कही है। मोक्ष सात्त्विकी धृति का विषय है। धर्म, काम, अर्थ में रुचि लेने को भी धृति चाहिए, नहीं तो विपरीत परिस्थिति आने पर काम एवं अर्थ के लिये धर्म को

छोड़ देंगे या काम के लिये अर्थ को छोड़ देंगे। आजकल पाँच रुपये के लोभ से झूठ बोल देते हैं, क्योंकि धर्म के प्रति धृति नहीं है। काम में भी धृत करना कठिन है। काम का मतलब है पहले काम्यमान पदार्थ और तज्जन्य सुख के स्वरूप को समझना। अधीर लोग काम के सन्दर्भ में भी मूढवत् आचरण करते हैं। खाना-पीना ही काम नहीं है! अधीर होने से ही आज परम सुख स्वर्गरूप काम्य के प्रति भी दृष्टि नहीं रही। शास्त्रीय लोग पशु-पक्षी के काम को महत्त्वपूर्ण काम नहीं मानते। लोक में भी पत्थर के ऊपर सोने वाला कामोपभोग करता नहीं माना जाता है। मखमल के गद्दे पर सोना कामोपभोग स्वीकार है। इसी प्रकार बुद्धि अतिस्थूल होगी तो कामना भी अतिस्थूल होगी। अनजान व्यक्ति भोजन की सोचता है तो मन में आता है कि गुड़ चिउड़ा खायेंगे, क्योंकि रसगुल्ले का उसे पता ही नहीं। जैसे लोक में सूक्ष्म सूक्ष्मतर विषय ही कामोपभोग के क्षेत्र में आते हैं वैसे शास्त्रीयों के अनुसार सूक्ष्मतम विषय काम नामक पुरुषार्थ सम्पन्न करते हैं, साधारण लौकिक विषय नहीं। अर्थ को धारण करना भी अधीर के लिये कठिन है। थोड़ा-सा कष्ट पड़े तो वह ढीला पड़ जाता है, अर्थ की हानि कर लेता है। संसार में किसी देश ने अर्थ को तो किसी ने काम को उद्देश्य बनाया।

भारत में उत्तम उद्देश्य मोक्ष माना गया, मध्यम धर्म, काम, अर्थ माने गये। वर्तमान में राजसी भी धृति न होने से इन पुरुषार्थों से हम वंचित हो रहे हैं। राजस धृति वाला फल से परहेज नहीं रखता लेकिन फलमात्र का आग्रही तो नहीं ही होता। धर्म, काम, अर्थ की प्राप्ति अवश्य हो, फल भी मिले तो अच्छा है लेकिन फल लेने में धर्मादि की हानि तो नहीं ही होनी चाहिये यह राजस धृति है। 'मुझे उपाधि ही मिले' यह फल में अभिनिवेश होगा तो चाहे छुरा दिखा कर लेगा! इसी प्रकार धृतिरहित चाहता है 'हमें धन मिले, चाहे उद्योग नष्ट हो जाए'। यह प्रसंगेन फलाकांक्षा नहीं हुई। 'मेरा पैसा कैसे बढ़े' यह धृतिहीन सोचता है, धृति वाला सोचता है 'मेरा व्यापार कैसे बढ़े'। संयुक्त राष्ट्रसंघ वाले कहते हैं, सन् ४७ में भारत आर्थिक दृष्टि से सातवें स्थान पर था, आज हम ५२वें हैं कारण यह है कि राजसी धृति भी हमारे अन्दर नहीं है। थोड़ी चीज़ पैदा करके, दाम बढ़ा कर लूटना—यह

व्यापार नहीं है। अधिक चीज़ पैदा कर व्यापार करना धृति है। इसी प्रकार

नकल करके प्रमाणपत्र लेना पढ़ना नहीं है। नौकर इतना काम नहीं करना चाहता कि मालिक की आमदनी बढ़े, यही चाहता है कि हमारी तनख्वाह बढ़ती चले, चाहे मालिक दिवालिया हो जाए! यह राजसी धृति नहीं है।

भगवान् ने तामस भी धृति बतायी—

**'यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।**
**न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी'॥**

हमने धारण किया कि जितनी नींद ले सकें उतना ही श्रेष्ठ है! आफिस में, मेज पर, खाना हाथ में लेकर, सत्संग सुनते हुए भी सो सकते हैं। सबेरे नौ बजे बस पकड़नी है तो कैसे साढ़े आठ बजे तक सो सकें—यह धारण किया है। चाहे धूप निकल आये, पंखा बन्द हो जाए, घंटाल बजे, ट्रक हार्न बजावे, तामस धृति वाला नहीं उठेगा। स्वप्न और भय को अपने हृदय में धृत रखता है। अपने बेटे से डरते हैं कि इसे यदि डाँटेंगे तो शायद भाग जाये। पत्नी से डरते हैं कि शायद पीहर चली जाए। नौकर कहीं चला गया तो कल से खाना कौन बनायेगा? यह भी डर है। हमने भय को इतना धृत कर रखा है कि राज्य का सामना भला क्या करेंगे! लोग ऐसों की तारीफ भी करते हैं—'वे बड़े ही सज्जन हैं, कोई कुछ कर जाए तो भी शान्त रहते हैं। लड़का शराबी हो गया, लड़की ने दूसरी जाति में ब्याह कर लिया, वे कुछ नहीं कहते'। किन्तु है यह तामस धृति। इसी तरह तामसी लोग शोक को धृत करते हैं। किसी के मरने पर जितना अधिक कोई रोये उतनी उसकी प्रशंसा करते हैं! यदि दूसरे ही दिन काम पर चला जाए तो निन्दा करते हैं। हर समय उदास रहते हैं। उदासी को श्रेष्ठ मानते हैं। कोई प्रसन्न रहे तो उसे हँसोड़ा मानते हैं। दुःख तामसों का आदर्श है, सुख उनके लिये बुरी चीज़ है। इतना ही नहीं, आँखों से देखने का काम भी ठीक से नहीं लेते। एक ही रास्ते पर दो साल से चल रहे हैं किन्तु रास्ते में खड़ा नीम का पेड़ नहीं देखा! इन्द्रियाँ विषण्ण हैं, उनमें सूक्ष्मता नहीं है। सबसे ज़्यादा भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार करने वाला हिन्दू सबसे ज़्यादा मिर्च-मसाला क्यों खाता है? जीभ को उदास रखता है, इसमें इतनी सूक्ष्मता नहीं पनपाता कि यह जाने, क्या खा रहा है। गाय के घी में पूरी बने तो उसमें बदबू आती है। वैजीटेबिल घी खाते खाते

शुद्ध घी में बदबू आने लगी है। दूध बुरा लगता है उसमें बदबू आती है, अत: उसमें कॉफी डाल कर पीते हैं। हमारा मन विषण्ण है। बुद्धि निर्णय करने में प्रवृत्त नहीं होती, आज जो मानेगी, कल उससे विपरीत मान लेगी। विषण्णता का हिन्दी अनुवाद है 'चलता है'। प्रत्येक चीज़ की बुराई या अच्छाई से कुछ फ़रक न पड़ना भी तामस धृति है। ऐसी धृति वाले एक-दूसरे की तारीफ भी करते हैं। किन्तु वास्तव में ऐसी सोच वालों की नैतिकता भुथरा गई है।आज साठ प्रतिशत हिन्दू बार-बार कहते हैं 'सारे धर्म एक जैसे, धर्मों में कोई फ़र्क नहीं'। उन्होंने कितने धर्मग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन किया कि इस निर्णय पर पहुँचे? अपने धर्म की एक पुस्तक नहीं पढ़ी! यदि सब धर्म एक-से हैं तो एक धर्म कहता है गौ की बलि करो, दूसरा कहता है गौ की पूजा करो, तो क्या विरोध नहीं है? एक धर्म कहता है प्राणी की अनाथावस्था में उसे मारना पाप है, दूसरा कहता है यदि भिन्न धर्मावलम्बी अनाथ को मारोगे तो गाजी बनोगे। किन्तु तामसी को दोनों में कोई फ़र्क नहीं दीखता।

अशास्त्रीय पदार्थों के सेवन से मद बढ़ता है कि 'मैंने सब कुछ जान लिया, अब कुछ जानना बाकी नहीं'। पाँच हज़ार वर्षों से गीता पढ़ी जा रही है। मधुसूदन सरस्वती टीका लिखने बैठे। उनको कृष्ण का साक्षात्कार होता था। वे कहते हैं कि 'भगवान् का अभिप्राय बताने वाले हम बेचारे कौन होते हैं'! हम, कौड़ी के लोग, उनका तात्पर्य कैसे निर्णय करें! 'गीता पढ़ ली', कहने वाले मद-मस्त लोग संस्कृत भी नहीं पढ़े होते और गीता में दोष पता लगा लेते हैं! ऐसे लोग बार-बार कहने पर भी 'हम ही ठीक जानते हैं' यह हठ नहीं छोड़ते। ऐसों को लगता है कि स्वप्न, भय आदि कैसे छोड़ दें? भय वाला व्यक्ति हर क्षण मरता है किन्तु शोक, विषाद, मद नहीं छोड़ता। ऐसों को भगवान् ने 'दुर्मेधा' कुत्सित मेधा वाला कहा है। इस प्रवृत्ति से मोक्ष वाली धृति भी दूर और धर्मार्थकाम वाली धृति भी दूर रहती है क्योंकि वह **'यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च'** वाली धृति नहीं है। तमोगुणी धृति ग़लत है। वास्तव में प्रज्ञानसे चेत:, चेत: से होने वाली धृति ही शिव-संकल्प को कराने वाली है।

## प्रवचन दशम (१७.०९.१९६९)

आत्मा की प्रज्ञान, चेतः, धृति इन त्रिविध शक्तियों का प्रतिपादन किया। प्रज्ञान अर्थात् सत्य स्वरूप को समझना, चेतः अर्थात् उसे हृदयंगम करना और धृति अर्थात् धारण करना है। धारण करने पर ही इच्छा की पूर्णता आयेगी। 'यज्ज्योतिःअन्तः' द्वारा इच्छा बतायी है। अन्दर की ज्योति स्थिर नहीं वरन् निरन्तर चलने वाली है। परमात्मा एकदेश में आबद्ध नहीं हो सकता है। परमेश्वर के रहने की जगह 'पटकुटी' (लम्बू) है अर्थात् कपड़े की कुटी। वह पटकुटी कौन-सी है?

**'धृतिस्तम्भाधारां दृढगुणनिबद्धां सगमनां**
**विचित्रां पद्माढ्यां प्रतिदिवससन्मार्गघटिताम्।**
**स्मरारे मच्चेतःस्फुटपटकुटीं प्राप्य विशदां**
**जय स्वामिन् शक्त्या सह शिवगणैः सेवित विभो' ॥**

अन्तःकरणरूपी पटकुटी को राग-द्वेष आदि मल से शून्य, साफ होना चाहिए। गन्दी कुटी में परमेश्वर निवास नहीं करते। 'विशदां' अर्थात् विशाल होनी चाहिये। बड़ा आदमी भी बड़े ही कमरे में रहता है। अन्तःकरण भी विशाल होना चाहिये, उसमें केवल अपने व्यक्तिगत विचार ही नहीं रहने चाहिए। ममता अभिनिवेश भी केवल दो-चार के प्रति नहीं रहे वरन् सबके प्रति हो। महत् महत्तर चीज़ों के विषय में विचार करना ज़रूरी है। अतः पटकुटी को संकुचित वृत्तिवाला नहीं, विशालतर, विशालतम बनाना पड़ेगा। तम्बू के भी कई अंग हैं। वह लकड़ी के सहारे खड़ा होता है। यदि बीच की लकड़ी खड़ी रही तभी तम्बू खड़ा रहेगा। सात्त्विक धृति ही भगवान् के तम्बू का आधारभूत स्तम्भ है। तम्बू तानने को रस्स्याँ भी चाहिए। तम्बू कमज़ोर रस्सी से नहीं ताना जायेगा। तम्बू को 'दृढ-गुण-निबद्धा' होना पड़ेगा। रस्सी गुणवान् होनी चाहिए। आँधी का झोंका आने पर जैसे कमज़ोर रस्सी टूट जाती है ऐसे प्रलोभनादि का वेग आये तो सद्गुण मजबूत न होंगे तो उड़ जाएँगे, दस-बीस हज़ार के लिये सत्यरूपी गुण छूट जायेगा। ऐसी रस्सी भगवान् के तम्बू के काम की नहीं। जो लोग स्टेशन के प्लेटफार्म टिकट के

लिये झूठ बोलते हैं वे महत्तर सुखों के लिये क्या त्याग कर सकेंगे! जो अत्यल्प भोग का त्याग सद्गुण की रक्षाके लिये नहीं कर सकता वह महत्तर भोग छोड़ सकेगा इसकी सम्भावना नहीं। वेद कहता है **'सत्यमायतनम्'** अर्थात् सत्य ही आधारभूत स्थान है जहाँ टिके बगैर ब्रह्मलाभ की साधना सम्भव नहीं। परमात्मा हृदय में रह भी गये, झोका आया और पटकुटी उड़ गई तो भगवान् कहाँ रहेंगे!

**'सगमनाम्'** अर्थात् ढोई जा सकती है, साथ ले जाने में सरल है। हम विशेष परिस्थिति में इतने आबद्ध रहते हैं कि दूसरी परिस्थिति की कल्पना से ही मन घबराता है। विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल अपने को बनाने वाला सगमन कुटी वाला है। परमात्मा का आश्रय वही अन्तःकरण बनेगा जो सब मान्यताओं का बन्धन हटा लेगा। अपनी मान्यतायें भरी हुई हैं तो परमात्मा की मान्यता का प्रवेश सम्भव नहीं। **'पद्माढ्या'** अर्थात् उस पर खुले कमलों की चित्रकारी हो रही है। शून्यता वाले अन्तःकरण में परमात्मा नहीं रहते। बड़े आदमी का मकान बनाने से अधिक खर्च उसके शृंगार में होता है। परमात्मा को भी पद्म की चित्रकारी की बहुलता चाहिए। अपने शरीर में द्विदल, चतुर्दल, षट्दल, सहस्रार आदि पद्म हैं। हज़ार पत्ते वाले कमल तक साधना द्वारा जो पहुँच गये, वहाँ रहना जिनका स्वभाव हो गया उन्हीं के चित्त में परमात्मा का वास होता है। जो नीचे के मूलाधार आदि में ही रहकर निरन्तर संसार का चिन्तन करे, उसमें वे नहीं आयेंगे। इसी प्रकार पटकुटी को गन्दी जगह लगा दो तो क्या बड़ा आदमी रहने आयेगा? धृति, गुण परिस्थिति में परिवर्तन करने की क्षमता, योगाभ्यास से यदि नियन्त्रित भी हो गये किन्तु सन्मार्ग प्रतिदिन घटित न हो तो समझो तम्बू ग़लत जगह लग गया है। सत् मार्ग अर्थात् अच्छा रास्ता, ऊबड़-खाबड़ न हो। सत् ब्रह्म है, अतः ब्रह्ममार्ग में नित्य निरन्तर अन्तःकरण घूमे तो सन्मार्ग-घटित होता है। परमात्मा को छोड़कर, संसार के पदार्थों में मन का उपयोग करना तो वासना तथा एषणाओं के कारण है। जब तक वासनायें, एषणाएँ नष्ट नहीं होतीं तब तक चित्त परमात्मा के योग्य नहीं होता। मार्ग अर्थात् जिसपर चलते हैं। बीच सड़क पर शादी के शामियाने तानने पर रास्ता बन्द हो जाता है। ज्ञान भी इधर-उधर से हटाने पर ही उच्चतर क्रियाओं की तरफ ले जाता है। सकारे

द्वारा कामना का अभाव बताया। जब काम नहीं रहेगा तब शिव आयेंगे। इस प्रकार अपनी कामना समाप्त करना यह रास्ता, तरीका बताया जिससे परमात्मा के योग्य कुटिया तैयार हो।

एक राजा का स्वभाव था कि कोई व्यक्ति सत्कार्य करे तो उसका पता लगाना और उसके लिये इस प्रकार साधन उपलब्ध करवाना कि किसी दूसरे को पता न लगे। कुछ आलसी व्यक्ति थे, उन्हें पता लगा कि राजा सत्कार्य करने वालों को सुविधा देता है। उन्होंने अपने असत्कार्य की पूर्ती के लिये सत्कार्य की योजना बनाई। धर्मशाला बनाने की खबर उड़ाई। राजा ने उनके पूर्वजों का विचार किया कि उनके पिता, पितामह आदि क्या करते थे। उनके घर में राजा ने स्वार्थ की परम्परा देखी कि सारे के सारे उदरंभर थे। राजा को उनकी बात जँची तो नहीं किन्तु सत्कर्म करने को कह रहे थे, अतः मदद का विधान कर दिया। राजा ने उनके यहाँ सोने की गोलियाँ भेजी। उनके बीच में भोजपत्र पर एक संख्या लिख कर रख दी। सुनारों से कहा 'इस प्रकार की गोली आये तो पुलिस को खबर देना'। उन लोगों ने सोचा, 'अपने घर लड़की का ब्याह आदि पहले कर लें, फिर धर्मशाला बनेगी'। बेचने गये तो सुनार ने स्वर्ण गुटिका की खबर पुलिस को दी। सुनार से पूछा कि उन्होंने क्या कहा था? उन्होंने बताया कि कहा था 'हमारे घर का पैसा है, हमें मकान बनाने को चाहिये, लड़की के ब्याह के लिये चाहिए'। वास्तव में शिवरूप राजा सत्कार्य में सुविधा दे देता है।

राजा ने कुलपरम्परा पता लगाई क्योंकि बुद्धिमान् सज्जन परम्परा का महत्त्व जानते हैं। आरुणि उद्दालक ने अपने पुत्र से कहा 'मर जा'। फिर सोचा 'यह मैंने क्या कह दिया'! सोच-विचार कर प्रयोग में आने वाली जीभ कुछ ग़लती करे तो अक्षम्य है। जबान से बात तो मन की आज्ञा से ही निकलती है। अपने आप लार टपक सकती है, शब्द का उच्चारण नहीं हो सकता! आरुणि उद्दालक ने कहा 'ऐसे ही मुँह से निकल गया, तुझे वह आज्ञा मानने की ज़रूरत नहीं'। पुत्र समझ गया कि पिताजी बात बदलना चाहते हैं। उसने समझाया **'अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे'** तुम झूठ बोलोगे तो झूठकी परम्परा चलेगी, पहले तो अपने कुल में कोई झूठ नहीं बोलता था, अब नयी चाल चलाना ठीक नहीं। **'यद् यद् आचरति श्रेष्ठः तत् तदेवेतरो जनः'** यदि

भगवान् का प्रिय भक्त धर्मयुद्ध से भागेगा तो लोग कहेंगे, ज़रूर भगवान् के कहने से भागा था इसीलिये भगवान् ने अर्जुन को धर्म के प्रति सावधान किया था कि हे अर्जुन! तुझे युद्ध की तैयारी के समय सोचना चाहिये था कि युद्ध में भाग लूँ या नहीं। युद्ध की तैयारी हो गई—अब कहता है 'हृदय में धर्म की आवाज़ उठती है'। तुमको यों धोखा देते देख कर दूसरे भी इस परम्परा से 'अपनी जान बचाओ, भाग जाओ' ऐसा करेंगे। इसी तरह नचिकेता ने कहा **'सस्यमिवाजायते मर्त्यः'**—मनुष्य तो पेड़-पौधों की तरह पैदा होते ही रहते हैं। अतः शरीर के पीछे धर्म का परित्याग क्यों? भगवान् ने भी यह नहीं कहा कि तू जीतेगा—**'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं'** पहले 'तू मरेगा' कहा, फिर विकल्प दिया **'जित्वा वा भोक्ष्यसे महीं'** जीत भी गया तो नुकसान नहीं। इस प्रकार कुलपरम्परा, परिवार की इज़्ज़त के अनुरूप आचरण बुद्धिमान् का होना चाहिये। यही समझकर राजा ने वंश का पता लगाया था और तदनुसार वे धोखेबाज निकले भी।

जैसे सत्कार्य में राजा सहायक होता था वैसे भगवान् ने कहा है कि जो जन अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी हर तरह से उपासना करते हैं उन सदा तत्पर भक्तों का योग और क्षेम मैं वहन करता हूँ। अप्राप्त की प्राप्ति योग एवं प्राप्त की रक्षा क्षेम है। सर्वत्र एकरस आत्मतत्त्व के चिन्तक के लिये अप्राप्त क्या होगा! व्यापक की 'उप' अर्थात् समीप से उपासना का क्या भाव, परिच्छिन्न के ही पास पहुँच सकते हैं? किन्तु तात्पर्य इतना ही है कि स्वरूप से अनन्यचिन्तन यहाँ उपासना है और सभी से स्वयं का अभेद समझना प्राप्ति है। शिव की अपेक्षा नहीं, उनकी शक्ति की अपेक्षा समीपता आदि संगत है।

**'शिवो ब्रह्मादिदेहेषु सर्वज्ञ इव भासते।**
**देवतिर्यङ्मनुष्येषु किंचिज्ज्ञस्तारतम्यतः'** ॥

देवताओं में शिव, ब्रह्मा आदि की अपेक्षा अल्पज्ञता है, मनुष्यों में देवताओं की अपेक्षा अल्पज्ञता है। अर्थात् ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति को लेकर भेद है। तिर्यक्-शक्ति को मानव ज्ञान की तरफ ले गये तो शक्ति का उत्क्रम कर रहे हैं। मनुष्य शक्ति वाला देवशक्ति की तरफ जाये तो

तारतम्य बनेगा क्योंकि अंततः ब्रह्मज्ञान की तरफ क्रम से ले जाना है। यही इच्छा-क्रिया में भी दिशा है। मानवोचित क्रियादि-क्षमता का नित्य अपने अन्दर तथा सर्वत्र अभिवर्धन करना मानव का विकास है। शिवरूप से अनन्यता जानते हुए शक्ति की दृष्टि से उपासना संगत है। 'उप' अर्थात् जिसे 'ऊपर' समझें, श्रेष्ठ जानें, उसकी ओर बढ़ें, उससे समानता लायें यह उपासना का रूप है। इसी से उपासक का विकास होता है। जो उपासक यों एक हुए रहते हैं, उनके लिये कहा कि 'योग क्षेम मैं स्वयं प्राप्त कराऊँगा'। अप्राप्त की प्राप्ति करायेंगे जैसे तिर्यक्-अवस्था वाले को मानव ज्ञान की प्राप्ति करायेंगे एवं मानव अवस्था में पहुँचे ज्ञान का हमेशा संरक्षण (क्षेम) करेंगे। असद्मार्ग वालों ने सोचा 'भगवान् देते हैं तो अपना इन्तजाम भी कर लें' अर्थात् झूठे मुकदमें में जीतने को हनुमान् जी से कहते हैं। जैसे असत्प्रयोग करने वाले को सोने की गुटिका दी तब राजदंड मिला ऐसे ही यदि चिन्तन है कि 'मैं तो ब्रह्म हूँ, मुझे पाप करने से क्या होगा! मैं तो असंस्पृष्ट हूँ, चाहे कुछ भी पाप करूँ', तो भगवान् का अवश्य दंडप्रहार होता है। परमात्मा के विरुद्ध काम करने से दंड ही मिलेगा। अतः भगवान् ने बताया है कि मेरी तरफ आने वाला शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है, उसके सारे पाप छूट जाते हैं। भक्त भी हो और पाप भी करे—यह सम्भव नहीं, भक्त सन्मार्गगामी होगा ही। क्योंकि वह अपनी कामना के पराधीन न होकर ईश्वराधीन बनता है इसलिये पापमुक्त होता ही है। हृदय में परमात्मा आ गये तो उनकी शक्ति स्वयं आयेगी।



## प्रवचन एकादश (१८.०९.१९६९)

प्रज्ञान के स्वरूप का विचार कर जिसे बुद्धि से समझा उसे चेतः में हृदयंगम करने को, फिर उसे धृति द्वारा धारण करने को कहा। अब उसे अपनी अन्तर्ज्योति रूप से बताना है। अन्तःज्योतिरूप वेदों का एक विशेष सन्देश है। स्वबुद्धि से कल्पना करने वाले ईश्वर को अपने से भिन्न, अलग मानते हैं जबकि परमात्मा उसे अपने से अभिन्न बताता है, अन्तर्यामीरूप से

उपास्य बताता है। अन्तर्यामी अर्थात् जो अन्दर रह कर नियन्त्रण करे। यह परमात्मा की इच्छाशक्ति के द्वारा सम्भव है। तुम्हारी जिस विषय में इच्छा है वह अन्दर रह कर नियन्त्रण करती है। किसी और का हम पर दबाव है ऐसा अपनी इच्छा के बारे में नहीं लगता और नियन्त्रण करती ही है। इच्छा पर दूसरों का नियन्त्रण बहिर्यमन है।अपनी इच्छा का शासन मीठा है क्योंकि वह अन्तर्यमन है। अपनी इच्छा के अनुरूप कार्य करने को मिले तो प्रसन्नता होती है। इच्छा का शासन इसलिये मधुर शासन है। **'अयं होता प्रथमः पश्यतेमम् इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु'** (ऋ.वे. ६.९.४) अग्नि कैसी है? हवन करने वाली है। यज्ञ में चार प्रधान ऋत्विक् होते हैं, उनमें ऋग्वेद के मन्त्र बोलने वाला 'होता' कहलाता है। 'होता' अर्थात् जो दूसरे को बुलाये, आह्वान करे। मन्त्र से तत्-तत् देवता को हविर्ग्रहण के लिये बुलाता है अतः 'होता' है। तुम भी आँखों से रूप का हवन आत्माग्नि के अन्दर करते हो। आँख, कान, नाक आदि देवताओं को इच्छा से बुलाते हो अतः इच्छा को ही 'होता' कहा। **'अयं होता प्रथमः'** सबसे पहला 'होता' तो इच्छा ही है। बाहर से शासन करने वाला व्यक्ति भी तभी शासन कर सकता है जब उसे मानने की इच्छा हो। चाहे भय से, चाहे लोभ से, चाहे 'पत्नी बिगड़ जायेगी' इस डर से, या 'राजा मारेगा' तो मृत्यु के डर से अनुचित दबाव मानते हो। यमन, नियन्त्रण के लिये दंड चाहिये। प्रबल इच्छा का प्रतिरोध (अवरोध) पैदा करना दंड है। 'मेरा जीवन न जाये, मेरा भोजन न जावे, मैं अकेला न रहूँ, समाज में रहूँ' इत्यादि मानवमात्र में इच्छायें हैं। इन्हीं में रुकावट डाल कर राज्य भी शासन करता है, सबको दंडपाश में बाँधता है।फाँसी देना, भोजन-पानी बन्द करना, जेल में डाल कर समाज से अलग करना अथवा अकेले रहने का कारावास देना आदि दंड प्रसिद्ध हैं। यद्यपि सबने यह स्वीकार कर लिया कि राजा को सभी पर नियन्त्रण करने का और एतदर्थ सबको दंडित करने का अधिकार है लेकिन ब्राह्मण ने कहा, **'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** हम ब्राह्मण तो शिव के अलावा और किसी को राजा नहीं मानते! राजा को आगाह किया, बाकी सबका नियन्त्रण करने का प्रयत्न करना, ब्राह्मण पर शासन करने का प्रयत्न न करना।

ब्राह्मण का वैशिष्ट्य क्या? बृहदारण्यक में (३.५.१) बताया **'बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य अथ मुनिः, अमौनं च मौनं च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः'** अर्थात् विषयदृष्टि का तिरस्कार और आत्मविज्ञान प्राप्त कर मनन कर चुकने वाला ब्राह्मण है। इस प्रकार, राग-द्वेष से रहित होना ब्राह्मण की विशेषता है। जिसने आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया, वह क्या विप्रलिप्सा, प्रलोभन से दूर हो सकेगा? धन का प्रलोभन, नाम का, यश का इत्यादि कई प्रलोभन हैं। ब्राह्मण ही समझ पाता है—

**'प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा गौरवं घोररौरवम्।**
**मानं चैव सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत्'** ॥

जब लोग प्रतिष्ठा दें तो सुअर की विष्ठा मिल रही है ऐसा समझता है। गौरव और मान को भी छोड़ता है। अविद्या तथा कामना छोड़ कर संसार से वैराग्य वाला होना ब्राह्मणत्व है। तभी मनन होता है अन्यथा मानी हुई चीज़ की पुष्टि ही की जाती है। पांडित्य से भ्रम, बाल्य से प्रमाद और निर्वेद से विप्रलिप्सा दूर कर चुका मुख्य ब्राह्मण है। अन्यों को इसीलिये ब्राह्मण कहते हैं कि वे इस मार्ग पर चलने को सन्नद्ध हुए हैं। जैसे भर्त्ती के समय से ही डाक्टरी के विद्यार्थी को डाक्टर कहने लगते हैं वैसे जन्म से ही ब्राह्मण कहने लगते हैं जबकि मुख्य ब्राह्मण वह उक्त विशेषता पाने पर होगा। वही केवल भगवान् शंकर के शासन में रह सकता है। इस प्रकार, 'होता' का अर्थ इच्छा और वह अपनी पूर्ण शुद्धि में जहाँ व्यक्त है वह अंतर्यामी नारायण प्रथम 'होता' है। असद् इच्छा ही हमें पराधीन बनाती है यह समझकर अपनी इच्छाओं का ऐसा परिष्कार जो कर ले कि, ईश्वरेच्छा से अन्य कोई इच्छा उपजे ही नहीं, वही वास्तव में स्वातन्त्र्य प्राप्त करता है।

आगे ऋग्वेद कहता है **'ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये'** (६.९.५) अन्तःज्योति कभी बदलती नहीं। वह ध्रुव है। बाह्य ज्योति से भूल होती रहेगी। पूर्ण निर्णय करने से पहले ग़लती करते ही हैं। अल्पज्ञ जीव समग्रता समझने में है ही अक्षम तो सर्वथा सही समझ पाये यह दुर्लभ है। वैदिक प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण ब्रह्मस्वरूप मानता है अतः राजा तक का आदर्श है कि यदि कोई जीव मेरे निर्णय से दुःख पा जाय तो मेरी ज़िम्मेदारी एक

लड़का मर गया तो पिता ने श्रीराम के सामने रख दिया, राम काँप उठे! आजके राजा इन सामान्य चीज़ों पर ध्यान भी नहीं देते। आज वास्तविक ब्राह्मणों की संख्या बढ़ानी पड़ेगी। उस ध्रुव ज्योति को पकड़ना है। ईश्वर की आज्ञा परिवर्तित नहीं होती।

**'इदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्'** बहुतों ने परमात्मा का बहिर्यामी रूप ही बताया। वेद ने कहा हम ब्राह्मण केवल बाहर से शासन करने वाले को राजा नहीं मानते, जो इच्छारूप से भी शासन करे वह राजा—

> **'गुहायां गेहे वा बहिरपि वने वाद्रिशिखरे**
> **जले वा वह्नौ वा वसतु वसतेः किं वद फलम्।**
> **सदा यस्यैवान्तःकरणमपि शंभो तव पदे**
> **स्थितं चेद् योगोऽसौ स च परमयोगी स च सुखी'** ॥

गुफा में भगवान् दीखे या घर में, क्या फ़रक पड़ता है! दोनों ऊपर से बन्द रहते हैं। हम रहते वहाँ हैं जहाँ अन्तःकरण है। चाहे गुफा में रहो, चाहे पहाड़ के शिखर पर, क्या फ़रक पड़ा! राज्य की दंड-प्रणाली का विरोध ब्राह्मण ने किस साहस से किया? मृत्यु को अविद्या के नाश से नष्ट माना, इससे साहस आया। उसने समझ लिया कि मृत्यु देह से मुझे अलग करेगी, वह तो मैं पहले किये बैठा हूँ। राजा ने किसी महात्मा से कहा 'तुझे मार डालूँगा'। राजा से महात्मा ने कहा 'पहले मुझे देख तो लो, तब मार सकोगे'। यदि कहो भोजन नहीं देंगे; तो जिस प्राण का धर्म खाना-पीना है उससे मैं पहले अलग बैठा हूँ। समाज से मन व्यवहार करता है, मनोमय कोष से तो मैं पहले अलग हूँ, मैं तो साक्षी हूँ। यदि एकान्त कारावास में डालेगा तो वह जानता है कि एक के अलावा कोई अन्य है नहीं, मैं सदा एकान्त में ही हूँ। जैसे घर में बेटे को थप्पड़ मारो तो बेटा कहता है 'मार लो, तुम्हारे हाथ में ही दर्द होगा' ऐसे ब्राह्मण जानता है कि बाह्य शासन उपाधि पर ही चल पाता है। अन्तर्यामी से बचा नहीं जा सकता। शराब, भाँग से घंटा, दो घंटा भूल जाओगे, अन्तर्यामी ही भूली जा सके ऐसी चीज़ नहीं है। जल, आग आदि भूतों से भी उपाधिस्तर का अभेद और आत्मस्तर का असम्बन्ध जानने से ब्राह्मण इससे नहीं डरता कि 'जले वा वह्नौ वा' उसे जल में डुबायें या वह्नि

में जलायें। आदित्य के उपासक को तेजस्तत्त्व भयभीत नहीं कर सकता। यह सब तभी सम्भव है जब उसका मन सदैव शंभु के चरणों में स्थित है, उसी से इस अभय का लाभ है। ऋग्वेद (३.९.९) कहता है, **'त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्'**। तीन अर्थात् ज्ञान, इच्छा, क्रिया इनके सैकड़ों भेद हैं। इनके विषय लें तो तीनों के हज़ारों हैं। अनुमानादि पाँच प्रमाण, प्रत्यक्षसाधन पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, पाँच महाभूत, चार अन्तःकरण और एक अविद्या—इस प्रकार तीस भेद सभी के अनुभव में आते हैं। व्यवहारों की सफलता से नौ तरह की तुष्टि सम्भव होती है। प्रमाता-प्रमेय के मिलने से तुष्टि हुआ करती है। सभी उपाधियों के अधिष्ठाता देवता प्रसिद्ध हैं लेकिन हैं वे सब एक अग्निनामक परमात्मा के रूप। अतः सभी से किया जाता व्यवहार सपर्या या अर्चना उसी परमेश्वर की है। उस परमात्मा की ही ये सब 'महिमा' है। वह अपनी महिमा का प्रतिपादन इन सब रूपों से करते हैं। उसी अन्तर्ज्योति के लिये इन सबको लगाना था जब कि हमने अन्तर्ज्योति को भी इन सबके पूजन में लगा दिया! यही बन्धन का कारण है। समग्र इन्द्रियों को, विषयों को, कर्मों को ईश्वर की ओर ले जाना है—

> **'हंसः पद्मवनं समिच्छति यथा नीलाम्बुदं चातकः**
> **कोकः कोकनदप्रियं प्रतिदिनं चन्द्रं चकोरस्तथा।**
> **चेतो वाञ्छति मामकं पशुपते चिन्मार्गमृग्यं विभो**
> **गौरीनाथ भवत्पदाब्जयुगलं कैवल्यसौख्यप्रदम्'** ॥

हंस सफेद, चातक आसमानी और कोक काले रंग का होता है। हंस पद्म खाता है। कमल कीचड़ में पैदा होता है किन्तु सर्वथा कीचड़ से रहित रहता है। विश्व में वृत्तिज्ञान पैदा अविद्या से होता है किन्तु ज्ञान वस्तुतः साक्षी-रूप होने से सदा पवित्र रहता है। सत्त्व-गुणी हंस की भाँति नीर-क्षीर विवेक-युक्त साधक नाम-रूपात्मक जगत् से ज्ञानरूप वृत्ति का विवेक करता है। सफेद हंस और काले कोक के बीच गिना चातक सत्त्व और तम के बीच के रजोगुण का सूचक है। समुद्र का खारा जल जब बादल ने मीठा बनाया तब चातक उसे लेता है। मध्यम साधक प्रत्येक नाम-रूप में ज्ञान नहीं

देखता, पर वेदादि ने शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन रूप वृष्टि की है, उसे वह साधन बनाता है। कोक अर्थात् चकोर; वह और चकोरी रात्रि में साथ नहीं रहते अतः उन्हें सूर्य की अभिलाषा है। सामान्य साधक को सुख की अभिलाषा है। अतः संसार-विषयक कामना जब तक है तब तक सुख से दूर रहूँगा ऐसी वह प्रार्थना करता है। हंस प्रयत्न करता है किन्तु चातक खाली मुख फाड़ देता है और कोक सूर्य के उदय के लिये कोई प्रयत्न नहीं करता। चौथा है चकोर जो चन्द्रमा की तरफ देख कर अग्नि के अंगारे खाता है! मनोनाश और वासनाक्षय जब पूर्ण हो जाते हैं तब राम-कृष्ण आदि की तरह प्रतिक्षण संसाररूप अंगारे का बाध होता रहता है। चन्द्र की शक्ति से जैसे चकोर अंगारे खाकर अस्पृष्ट बना रहता है वैसे इस दृढ जीवन् मुक्त की स्थिति में अखण्ड तत्त्व के बल से विषय के स्पर्श से दूर रहा जा पाता है। इस फल के लिये चिन्मार्ग से अन्वेषणा जरूरी है। चिद्रूप में प्रत्यग्भाव व्यक्त है, प्रत्यगात्मरूप परमात्मा अन्तर्यामी रूप से शासन कर जीव को इसी उद्देश्य के लिये प्रेरित करता है।



## प्रवचन द्वादश (१९.०९.१९६९)

परमात्मतत्त्व को पहले बुद्धिगम्य बनाना है फिर हृदयंगम करना है फिर धारण करना है फिर इच्छा का विषय बनाना है ताकि सब काल, सब अवस्थाओं में वही इच्छा-शक्ति का नियन्त्रण करे। अन्य शासन करने वाले बहिर्यमन करते हैं अतः उनका शासन दण्ड के आधीन है। परमात्मा अन्तर्यमन भी करता है उतः उसका शासन केवल दण्ड के आधीन नहीं, प्रेमाश्रित है। ईश्वर दण्ड भी देता अवश्य है पर शासन के लिये उस पर निर्भर नहीं। दण्डभय से नहीं वरन् ईशप्रेम से ईशाज्ञा में चलना साधना है। झूठ बोलोगे तो धर्म की दृष्टि से कहेंगे कि नरक में सुइयों से बींधे जाओगे। मिथ्या भाषण आदि कुकर्मों का फल कष्ट होगा। कष्ट के साधन क्या हैं, किस पाप से कौन कष्ट होगा इसमें भिन्न-भिन्न मत सम्भव हैं पर मूल भित्ति दण्ड है। इससे विलक्षण, साधना की मूल भित्ति प्रेम है कि 'मेरा झूठ बोलना मेरे प्रिय

परमेश्वर को पसन्द नहीं इसलिये न बोलूँ'। ब्रह्म की तरफ दृष्टि न करना अविद्या है, **'अहमेव परं ब्रह्मेत्यस्यार्थस्याप्रबुद्धता अविद्येति वयं ब्रूमः'**। मेरे हृदय में अहं-अहं करके ब्रह्म सदा स्फुरण कर रहा है। ईंट की दीवाल, सोने का गहना, अपने आप बिजली से चलने वाला दिमाग (कम्प्यूटर) आदि सबकी अपेक्षा मेरा क्या वैशिष्ट्य है? यन्त्र ठीक और तेज़ सोचने का काम करते हैं। सोचना, ग़लतियाँ ठीक करना मानव का ही काम नहीं है। 'रोबोट' भी ग़लतियाँ सुधारते हैं, कठिन प्रश्न हल करते हैं, रोगों का निदान करते हैं। उसके अन्दर सूचना (डाटा) भर दी जाती है जिसके अनुसार वह निर्णय देता है। उसकी अपेक्षा हम में वैशिष्ट्य क्या? अपने अन्दर मैं की अनुभूति ही जीव की विशेषता है। 'मैं' की अनुभूति में स्वातन्त्र्य है, रोबोट में कभी स्वातन्त्र्य होने वाला नहीं। उसे जैसा कहा गया है—'ऐसी परिस्थिति में ऐसा ही निर्णय करना', वह वैसा ही करेगा। मनुष्य भी संस्कार से चलता है। ग़लत संस्कारों के कारण ही हम अविचारशील चिन्तन करते हैं, संस्कारों से ही कामनायें होती हैं। प्रारब्धाधीन कामनायें भी होती हैं किन्तु ज़्यादा वे हैं जो संस्कारों से होती हैं। केवल संस्कारानुरूप ही जीव चलता तो चेतन नहीं, रोबोट होता! चेतन का अर्थ है स्वतन्त्र।

चेतन को परतन्त्र बनाना ब्रह्मवाद का खण्डन है। कोई दूसरा चाहे 'अमुक काम करो', तभी हम करें, यह जडवाद है, स्वतन्त्रता नहीं। 'यदि कोई अधिनायक ('डिक्टेटर') हो जाय तो हम सुधर जाएँ', यह जडवादी की सोच है। चेतनाद्वैत से इसका विरोध है। झगड़े का आकार क्या? जडवादी पूछता है 'क्या परमेश्वर हममें ऐसी वृत्ति नहीं पैदा कर सकते कि ये सुधर जाएँ?' चेतनवादी कहता है कि तब बाहर से शासन करने के कारण जीव जड हो जायेगा। पाप करने की सम्भावना न रह जाने की मनःस्थिति में पहुँचकर पाप न करना अध्यात्मवाद है। दण्ड के डर से पाप न करना अध्यात्मवाद नहीं है। स्वातन्त्र्यवाद सनातन धर्म का मूल है। धन देकर भी मनुष्य स्त्री को अपनी कामना बुझाने के लिये प्राप्त करता है, यह जडवादी प्रवृत्ति है। विवाह के बाद भी पत्नी मिलती है पर वह तुम्हारी हर बात नहीं मानती। वह स्वतन्त्रतापूर्वक सहयोग करने वाली है। अतः विवाह चेतनवादी

संस्कृति में ही सम्भव है। परमेश्वर भी प्रेम से स्वतन्त्रतापूर्वक काम लेगा। चेतन तो स्वतन्त्रता से सहयोग चाहता है जबकि जडवाद अस्वतन्त्रता से सहयोग लेगा। आचार्य कहते हैं—**'शिवे स्वारसिको रागः'** शिव में स्वरसतः, स्वभावतः होने वाले राग से **'शिवचिन्तामयी भक्तिः सात्र रागात्मिका भवेत्'**। शिव में स्वरसता है, उसमें आनन्द है। रस अर्थात् आनन्द। संसार में सब आनन्द 'पर-रस' है क्योंकि अपने से भिन्न किसी पदार्थ से आनन्द की प्राप्ति होती है। उससे विपरीत परमेश्वर स्वरस है। 'पररस' तो प्राप्ति के आधीन होता है जबकि 'स्वरस' प्राप्ति के आधीन नहीं। बेटा मुझसे प्रेम करे तो मैं खुश होवूँ—यह पररस ग्रहण करना है। मुझे पुत्र से प्रेम है अतः खुश हूँ—यह स्वरस का आस्वादन है। पुत्र के प्रेम करने से मैं प्रेम करूँगा—यह आधीनता का प्रेम है। धन मुझे मिलेगा तब मैं आनन्दी होऊँगा—यह धन की गुलामी है। धनिक मुझे कुछ देगा तब हम उससे प्रेम करेंगे—यह भी धन की गुलामी। ऐसे ही पुत्र-पत्नी की गुलामी भी 'पररस' है। इसके विपरीत, विचारशील कहता है, यदि कोई पदार्थ मुझे मिलकर सुख देगा तो 'मैं' उस पदार्थ को सुख वाला बना रहा हूँ। यदि पदार्थ सुख देता तो नोटों से सुख कागज़ों को होता! यदि अन्न सुख देने वाला होता तो सुखी बोरा होता! सुषुप्ति में बिना किसी पदार्थ के 'मैं' सुख वाला हूँ। पदार्थ तो जड हैं, बिना चेतन के कभी सुख वाले नहीं। जब सत्य यह है तो मैं अपने को पदार्थों के आधीन क्यों बनाऊँ? 'मेरा परमात्मा से प्रेम है' इतने से ही आनन्द का उद्भव हो तो स्वारसिक प्रेम है। परमात्मा मुझे कुछ देगा इसलिये उससे प्रेम होना धर्म का विषय हो सकता है, स्वारसिकता नहीं। जैसे ही प्रेम अन्तर्यमन में विकसित होता है वैसे ही सुख की अनुभूति प्रारम्भ हो जाती है।

एक राजा था। वह आदर्शवादी था। उसने अपनी प्रजा को परमात्मा की तरफ प्रेम वाला बना दिया। सामान्य जनता को हम जो शिक्षा देंगे उसका प्रभाव हमारे ऊपर भी आता है। 'कह दो कि पिताजी घर में नहीं हैं' यों बच्चे को झूठ बोलने की शिक्षा हमने दी अतः मौके पर हमसे भी झूठ बोलता है। तुम्हारे पुरखे मूर्ख थे—यह पैसा देकर स्कूलों में सिखाते हो। पूर्वजों की अपेक्षा हम विद्वान्, हमारी अपेक्षा विदेशी विद्वान् ऐसा उन्हें समझाते हो।

कालिदास, भवभूति नहीं पढ़ा किन्तु मिल्टन, शेक्सपेअर की प्रशंसा करते हो। समाज का उद्धार मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास के अनुसार नहीं वरन् मार्क्स, लैनिन की विचारधारा से करना चाहते हो। यह उच्छिष्ट भोजन, दूसरों के मुँह से निकली बात मानना उनका थूक चाटने जैसा ही है! आज मानवतावाद की दुहाई है किन्तु राष्ट्र के अन्दर मज़दूर को मालिक की वफादारी न करना सिखाया जा रहा है। कहते हैं गाय और गधे में फ़रक क्या? मन्दिर झूठे, भाखड़ा बाँध सच्चा! तीन रंग के प्रतीक का सम्मान न किया तो अपराध मानते हो जबकि हज़ारों सालों के प्रतीकों का सम्मान नहीं करने की ही शिक्षा दे रहे हो, खुद उन प्रतीकों का अपमान कर रहे हो। इस सबका असर स्वयं पर, पूरे राष्ट्र पर, प्रत्येक व्यक्ति पर आयेगा इसमें सन्देह नहीं।

उस आदर्श राजा को अपनी सफलता पर गर्व हो गया। उसने हिमालय विजय किया। उसने अपने सैनिकों से कहा, 'पर्वत के शिखर पर जाकर मेरा नाम लिख दो'। सैनिक भगवान् का भक्त था, पहाड़ से लौटकर कहने लगा, 'वहाँ पर जगह नहीं है, सारी चट्टान नामों से भरी है'। राजा बोला 'ऐसा करो, एक नामको मिटा कर मेरा नाम लिख दो'। राजा जब विजय से वापिस राज्य में आया तो देखा, प्रजा में धर्म की प्रवृत्ति हट गई थी, सब स्वार्थों में रत थे। राजा ने पुरोहित से पूछा 'ऐसा क्यों हुआ?' पुरोहित बोला 'समाधि से पता लगाता हूँ।' उन्होंने शंकर जी से पूछा कि यहाँ की प्रजा तो धर्म में रत थी, अचानक यह परिवर्तन क्यों हुआ? शंकर जी ने कहा, 'यमराज से पूछो।' पुरोहित यम के पास पहुँचे। यम ने पूछा 'कैसे पधारे?' पुरोहित ने कहा 'मेरे यजमान राजा की सारी प्रजा परमेश्वर की भक्त थी, इनमें अकस्मात् परिवर्तन क्यों आया?' यमराज बोले, 'इतने वर्षों तक तुम्हारे राजा ने राज्य किया, अब थोड़े दिन मुझे भी राज्य करने दो, मेरा काम कैसे चलेगा! मैंने विष्णु जी से प्रार्थना की कि 'सर्वथा सत्ययुग आ गया है हम क्या करें? इस राजा के राज्य में बचपन से ऐसी शिक्षा पाते हैं कि मैं पहुँच नहीं पाता हूँ। मैं आपका भक्त हूँ, कृपा कर कोई उपाय करें।'

शास्त्र कहता है कि सत्य आदि युगों से कलि की क्या विशेषता है— **'कलिः शयानो भवति'** जो परमात्मा की ओर सोया रहता है वही कलियुग

में है। परमेश्वर की ओर जागरूकता प्रारम्भ से रखनी चाहिये, उसे टालने का प्रभाव बताया है—

'शिशौ नासीद् वाक्यं जननि तव मन्त्रं जपयितुं
किशोरे विद्यायां विषमविषये तिष्ठति मनः।
इदानीं भीतोऽहं महिषगलघण्टाघनरवात्
निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम्' ॥

शैशव में स्पष्ट वाणी न रहने से जप नहीं किया। कैशोरावस्था में, अनेक विद्याओं में और विषम विषयों में मन भटकता रहने से भजन नहीं किया। व्यापार, नौकरी, परिवार आदि सबके लिये फुर्सत रहती है, सत्संग सुनने के लिये समय नहीं निकल पाता! यों टालते-टालते वार्धक्य आ जाता है। जब यमराज के भैंस के गले की घंटी की गूँज सुनायी देती है तो खुद को निरालम्ब, बेसहारा पाते हैं! डर लगता है। तब भी भगवती से प्रार्थना हो सके तो उद्धार सम्भव है। जैसे हम मन में अतिशय संस्कार भरते हैं ऐसे बड़ा पेट होने से गणेश जी 'लम्बोदर' हैं। उनकी जो माता वे हमारे भी अपराध क्षमा करेंगी, अब भी शरण लेंगे तो ब्रह्मज्ञान देंगी। माता स्वभाव से क्षमाशील होने से मातृमूर्ति को स्मरण किया। इसी भरोसे 'कं' अर्थात् क-नामक परमेश्वर की शरण बुद्धिमान् ग्रहण करता है। गीता कहती है कि चाहे जितना दुराचार कर चुका हो, जब अनन्य भक्त हो जाता है तब ठीक निश्चय वाला होने से साधु, सज्जन ही माना जाये यह उचित है। राजा के राज्य में बाल्यकाल से ही भगवान् की ओर जगा दिया जाता था अतः कलि निष्प्रभाव था। माता, पिता, आचार्य तीनों से सद्विद्या पाया व्यक्ति जीवन में भी सुखी रहता है, मरकर भी सद्गति पाता है। आजकल नया सिद्धान्त चला है कि बचपन में सद्विद्या नहीं देनी चाहिये, बुढापे में भगवान् का नाम लेना चाहिये! हिन्दू भी आज मरते समय गीता सुनने लगा, जबकि गीता सिखाती है जीने का तरीका। बचपन में ही ब्रह्मचर्य सुनना प्रारम्भ करे तब जवानी के झंझावात से सुरक्षित रहकर बुढ़ापे में भी भजन करेगा। गैरहिन्दू परमात्मा को संसार से बाहर मानते हैं जबकि हम जानते हैं कि वह व्यापक सत्य है, बाहर-भीतर का भेद तो संसारान्तर्गत कल्पना है। हमारा आदर्श है—

**'पुंखानुपुंखविषयेक्षणतत्परोऽपि**
**योगी न मुंचति पुरारिपदारविन्दम्।**
**संगीततालललयवाद्यवशंगताऽपि**
**मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव' ॥**

बाह्य विषयों की मार तो लगातार पड़ती रहेगी पर जैसे लय-ताल आदि का अनुसरण करते हुए भी नटी सिर पर रखे घड़े को सँभाले ही रहती है वैसे योगी की बुद्धि शिवचरणों पर स्थिर ही रहती है, चाहे एक के पीछे एक विषयों को भी झेलती रहे। इस उद्देश्य की सिद्धि राजा अपने राज्य में कर पाया था क्योंकि बाल्य से ही वैसी शिक्षा देता था, स्वयं सावधान था कि राष्ट्र में तदनुकूल वातावरण बना रहे। अतः सभी भगवत्प्राप्ति कर लेते थे, यमराज के अधिकार में कोई जाता नहीं था।

यम की प्रार्थना पर विष्णु ने यम से कहा कि मैं ऐसी जगह बताता हूँ जहाँ कलि (परमात्मा से विमुखवृत्ति) रहेगा—**'द्यूतं पानं रतिर्वेद-निन्दाऽधर्मश्चतुर्विधः'** ये सभी वृत्तियाँ परमात्मा की ओर से हटाने वाली हैं। जुआ खेलना सिखाओ, कैसे एक रुपये से पाँच लाख जीते जाते हैं। इसी प्रकार सबको शराब-पान की महिमा बताओ। चलचित्रादि विभिन्न साधनों से सबमें भोगों के प्रति रति जाग्रत् करो, जीवन स्तर बढ़ाने के नाम पर धनके प्रति सबमें आकर्षण बढ़ाओ। साथ ही वेद जैसे शास्त्रों की निन्दा सुनाओ—'ये तो गड़रियों के गीत हैं! क्या वेद मानने वाले ही अच्छे कार्य करते हैं'? इत्यादि। ये चार तरह के अधर्म फैला दो तो **'न भविष्यति तेषां वै शिवे भक्तिः कदाचन'** उनमें कभी शिवभक्ति होगी ही नहीं। इतने से भी यदि काम न चले तब विष्णु जी ने तीन और स्थान बता दिये **'पुनश्च याचमानायानृतं निन्दा मदं ददौ'**। इस क्रम में पहला है झूठ—स्वयं एक बात कह कर अपनी बात बदलना। आज के युग में यही राजनीति का मूल मन्त्र है! इसी से आज किसी सत्पुरुष से कहो 'तुम राजनीति करते हो' तो बुरा मानता है मानो गाली दी हो! दूसरा है निन्दा करना—दूसरे सब खराब हैं केवल हम ही अच्छे हैं। तीसरा है—मद अर्थात् घमण्ड।

सारी कहानी सुनकर पुरोहित तत्काल समझ गया कि हमारे राजा 'मद' में फँस गये हैं क्योंकि दूसरे का नाम हटा कर शिखर पर उन्होंने अपना नाम लिखवाया। इस प्रकार सात स्थानों में से 'मद' का भाव आया तो 'कलि' का प्रवेश हो गया। उसने कहा 'ॐ नमः शिवाय न लिखा कर आपने अपना नाम लिखाया इसी से प्रजा में ये दोष पनपे हैं'। राजा का स्वरसिक राग जब शिव के प्रति नहीं रहा तभी हानि हुई। इस राग को कैसे लाया जाए—यह आगे बतायेंगे।



## प्रवचन त्रयोदश (२०.०९.१९६९)

ज्ञानशक्ति की पूर्णता में ही शक्तिरूप इच्छा का उदय होता है और कर्म से उसकी प्रतिष्ठा होती है यह बताया। इच्छा भी स्वरस-पररस अर्थात् निरुपाधिक-सोपाधिक भेद से दो तरह की बतायी। आनन्द ही इच्छा का हेतु है। आनन्दरूप परमेश्वर से स्वरस प्रेम आत्मकल्याण करता है। दृष्टान्त से बताया कि—

**'शिवे स्वारसिको रागो महेशाविष्टताऽभवत्।**
**शिवचिन्तामयी भक्तिर्दृढा रागात्मिकाऽभवत्' ॥**

महेश में आविष्टता से ही स्वरसिक प्रेम, भक्ति सम्भव है। आवेश अर्थात् कुछ ऐसी चीज़ें अपने ऊपर आ गईं कि मुझे अपने ऊपर नियन्त्रण नहीं रहा। जीव किसी बाह्य, जड पदार्थ के परतन्त्र कभी होता नहीं। प्रायः परतन्त्रता में कोई एक इच्छाविशेष चिन्तन-शक्ति को इतना दबा देती है कि ज्ञान-क्रियाशक्तियाँ उसका अनुसरण करने लगती हैं। गूढार्थदीपिका में मधुसूदन स्वामी राग का अर्थ करते हैं कि जिसके बारे में बलवत् अनिष्टता का ज्ञान नहीं होकर इष्ट-धी हो वहीं 'राग' कहा जायेगा। मुझे लड्डू में राग है किन्तु सामने रखे हुए लड्डू को नहीं खा रहा हूँ। क्यों? बलवत् अनिष्टता का ज्ञान है कि उसमें जहर है! इस प्रकार इष्ट धी होने पर भी, विचारपूर्वक अनिष्टता का अनुवेध होने से मनुष्य उसे छोड़ देता है। जब इष्ट-धी इतनी प्रबल हो जाये कि बलवत् अनिष्टता का भान ही न रहे तब राग नामक

आवेश हुआ करता है। आवेश अर्थात् विषय में इष्ट-धी इतनी अधिक होना की उससे होने वाले अनिष्टों का भान होना ही नहीं। जैसे, सात दिनों से भूखा व्यक्ति जहर वाला लड्डू भी खा लेगा! 'आ' अर्थात् पूरी तरह 'वेश' अर्थात् घुस जाना; इतना घुस जाना कि दूसरे के लिये जगह ही न रहे! चेतना में निहित, पूर्व में अनुभूत वासनाओं का साम्राज्य वर्तमान पर हावी हो गया तब हमारे भीतर भूतावेश हो जाता है (भूत अर्थात् पूर्ववर्त्ती का आवेश) और तब बलवत् अनिष्टता का ज्ञान नहीं रहता। इसी प्रकार संसार की सत्यता का आवेश है। संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या—रोम का कोलोज़ियम, आगरे का ताज, चीन की दीवार? युधिष्टर ने कहा—

**'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालये।**
**शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्' ॥**

रोज़ लोगों को मरता देखकर भी बाकी चाहते हैं कि हम बने रहें! यह चेतन का आश्चर्य है। प्रतिदिन पदार्थों के नित्य परिवर्तनशील होने पर भी 'मैं परिवर्तन-रहित हो जाऊँगा'! यह आशा ही आश्चर्य है। रोज़ पुत्रों के द्वारा पिता पर अत्याचार देखते हुए भी 'मेरे पुत्र ऐसा नहीं करेंगे' यह समझना आश्चर्य है। सब गाँवों में बढ़ती हुई अराजकता को देख कर भी 'मेरा गाँव बच जायेगा' यह मान लेना आश्चर्य है।

इन्द्र बड़ा आलीशान महल बना रहा था। विश्वकर्मा काम में लगे हुए थे। इन्द्र बार-बार कहे 'जल्दी बनाओ' विश्वकर्मा तंग आ गये। उन्होंने बृहस्पति से कहा 'मैं भी तो देवता हूँ, फिर भी मुझे इतना परेशान करता है, कोई उपाय कीजिये'। उन्होंने लोमश ऋषि को भेजा। लोमश सिर पर चटाई रखते थे, वही लिये पहुँचे। उन्होंने इन्द्र से पूछा 'बड़ा सुन्दर पक्का मकान बना रहे हो, मकान में लम्बे अरसे तक रहोगे?' 'हाँ' इन्द्र ने कहा। ऋषि ने कहा 'मुझे तो थोड़े दिन रहना है, अतः कौन टंटे में पड़े! एक ब्रह्मा बदलता है इतने समय में चौदह इन्द्र बदलते हैं, तभी मेरे शरीर का एक रोम (रोयाँ) टूटता है। देख, मेरी छाती के कितने रोयें टूट चुके हैं'! सुनते ही इन्द्र ने सोचा 'यह तो गजब हो गया'! देवता की कामना विचार करते ही समाप्त हो जाती है। यही देवभाव का वैशिष्ट्य है। कितने मकान टूटते देख कर भी

हम मकान बनाने में ही लगे रहते हैं क्योंकि स्थायी-अस्थायी का विवेक नहीं रखते।

हमारे अन्दर 'संसार सत्य है' इसका आवेश है। बार-बार संसार के पदार्थ नष्ट होते देख कर भी मिथ्यात्व दृष्टि नहीं बनती, आवेश उतरने पर दुःख भी होता है। अधिकतर लोग माया के आधीन होते हैं किन्तु स्वारसिक शिवभक्त शिव के आधीन होता है। इस प्रकार जीव के दो मालिक हैं—माया और ब्रह्म। ब्रह्म जीव का पिता और माया माता होने से माया का संसार जीव का ननिहाल है। जैसे मामा के घर रहते भांजे का हृदय खुल नहीं पाता ऐसे संसार में ब्रह्मा, इन्द्र आदि के पद मिलने पर भी दिल छोटा ही रहेगा। पिता के घर ही अपनी सत्ता प्रभावी होती है, हृदय विकसित नहीं हो पाता है। ब्रह्मपक्षीय होने पर ही जीव का भी वास्तविक विकास हो सकता है। यदि परम महेश्वर का आवेश हो गया तो अन्तःकरण में और कुछ नहीं रहेगा। नाम, रूप, कर्मों के सामने आने पर भी परमेश्वर-दृष्टि कायम रहेगी। संसार के पदार्थों में सहज रूप से असत्यता की धी बनेगी। इनमें रहने वाला एकमात्र परमात्मा है यह निष्ठा दृढ हो जायेगी। पहले नाम-रूप को इष्ट समझते थे, अब इनके अन्दर रहने वाला परमेश्वर इष्ट हो जायेगा।

उन्मत्त दो दरह के होते हैं—**'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिराम् उन्मत्तभूतं जगत्'**। मैं और मेरा ये भाव ही मोह हैं। इनसे होता है प्रमाद अर्थात् असावधानी। मोही व्यक्ति 'संसार में कहाँ फँस रहा हूँ'—यह नहीं देखता। छोटे से छोटे काम में असावधानी भी हानिकर होती है। सामान्य व्यवहार में प्रमाद करने वाला नुकसान ही भुगतता है। ग़लत चीज़ खा-पी लेना असावधानी के चलते ही हो जाता है तो कितना कष्ट होता है यह प्रत्यक्ष है। राग-द्वेष, काम-क्रोध को मानो हम खा रहे हैं, उन्हीं का सेवन उपजीवन कर रहे हैं, उन्हीं से पुष्टि की आशा कर रहे हैं अतः इस प्रमाद के फलस्वरूप दुःख एवं पाप में डूबते जा रहे हैं।

शुकदेव ने विद्या को दूसरी मदिरा बताया है—

**'देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा**
**सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।**

दैवाद् उपेतमथ दैववशाद् अपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः' ॥
(भा. ३.२८.३७)

शराब के नशे में जैसे शरीर से वस्त्र लुढ़क जाते हैं वैसे ये देह प्राण मन आदि भी खिसका जाते हैं किन्तु विद्यावान् को पता नहीं चलता। उस दशा में अहन्ता-ममता की सम्भावना ही नहीं होती। पागल अपने जैसे पागलों का जमघट बनाता है! इसी प्रकार जगत् ही सर्वस्व है ऐसा समझने वालों का जमघट है। उन पागलों में एकता भी नहीं होती! संसार में भिन्न-भिन्न प्रकार के पागल हैं। कोई धनावेश से पागल, कोई स्त्री के पीछे पागल, कोई पुत्र के आवेश में, कोई सिनेमा के पीछे पागल। इन सबमें कोई ऐसा भी पागल है कि सबको जानता है पर *अपने* पागलपन का पता नहीं! 'मैं तो प्रारब्धाधीन हूँ, प्रारब्ध से पागल हूँ, यह सब प्रारब्ध करवा रहा है' यह उसका पागलपन है। इन सबको एक श्रेणी में क्यों रखें? क्योंकि ये सब अपने से भिन्न किसी पदार्थ के विषय में पागल हैं। जो परमात्मा के विषय में पागल है वह अपने से अभिन्न आत्मा के विषय में पागल है। उस पागलपन का विषय ज्ञाता का ज्ञान, 'द्रष्टा की दृष्टि' है। यदि पागलपन का निर्णय मतों से, वोटों से होवे तो आइन्स्टाइन बुद्धु सिद्ध होगा! क्योंकि सापेक्षता का *सिद्धान्त* केवल पाँच-सात लोग ही समझते हैं। सत्यका का निर्णय वोट से नहीं होता। सत्य का आग्रही यह दृढता रखता है कि अन्य कोई या कितने लोग मानते हैं इससे निरपेक्ष रहकर अपने निर्णय पर कायम रहता है। बहुमत तो झूठ के पक्ष में भी एकत्र हो सकता है। सबका पागलपन पर-पदार्थों में होता है, पर-पदार्थ तो अनन्त हैं। संसार में स्त्री के विषय में पागल अधिक या धन के विषय में या पुत्र के विषय में? यदि धन के विषय में वोट डालो तो मकान धन है या सोना धन है या कागज के नोट धन हैं? स्त्री के भी स्वकीया, परकीया आदि असंख्य भेद हैं, उनका भी निर्णय मतदान से सम्भव नहीं। पदार्थ के निर्णय में 'जनमत' में भी प्रत्येक व्यक्ति एक ही रहेगा! देश-काल के भेद से भी विषयभेद रहेगा। सत्ययुग की उर्वशी कलि में और कलि की स्त्री सत्ययुगीन के लिये कमनीय नहीं। भारत का रुपया अमरीकी के लिये इष्ट नहीं। अतः संसारी लोगों के पागलपन अलग-अलग

ही रहेंगे। किन्तु आत्मा सब काल में एक है अतः शुक, वशिष्ठ, वामदेवादि तथा आजकल के और भविष्य के विचारक, सभी को मिलाकर बहुमत भी आत्मज्ञानी का ही निकलेगा! आत्मा के वास्तविकत्व के बारे में सब आत्मवेत्ता हमेशा एकमत रहेंगे, उनमें मतविभाजन नहीं होगा। तत्त्व तो परमार्थ सत्य है, किसी के विचार से उसे वैसा 'माना' नहीं गया है। वही 'उत्' नामक ब्रह्म है, **'तस्योदिति नाम'** ऐसा वेद ने बताया है, उसी का मद ज्ञानी का उन्-माद है! यही शिव में स्वारसिक प्रेम है। ब्रह्मरस से मत्त में ही महेश का आवेश है। वह परमेश्वर के इस जगद्रूप उद्यान में, आराम अर्थात् बगीचे में क्रीडा करते हुए इसके स्वामी का साक्षात् अनुभव करता रहता है। अज्ञ तो सिर्फ बगीचा देखते हैं, मालिक को नहीं जैसे सामान्य व्यक्ति भारत देश अर्थात् ज़मीन, रेल, सेना को देखता है, 'भारत सरकार' क्या है यह नहीं समझता। जैसे नर दीखते हैं, राष्ट्र समझा जा सकता है, ऐसे जगत् दीखता है, शिव समझा जा सकता है। सारे शरीर में जैसे आत्मा सर्वत्र है वैसे जगद्-उद्यान के कणों व क्षणों में सर्वत्र परमेश्वर है। उसके दर्शन के लिये उक्त उन्माद चाहिये।

बंगाल में मंगल वेढ़ा कस्बे में रहने वाली श्यामा वेश्या की एक पुत्री थी। माँ की दुराचार-प्रवृत्ति से पुत्री घृणा का अनुभव करती थी। उसने बचपन में ही निर्णय किया कि 'मैं अपना जीवन इस प्रकार व्यर्थ नहीं खोऊँगी'। नाचना-गाना खूब सीखा पर माँ से कहती रही 'इस मार्ग में आने वाली नहीं'। माँ को अपना निश्चय सुना दिया। पहले तो माँ ने सोचा, जैसे सभी माँ-बाप बच्चों की ऐसी बातों पर सोचते हैं, कि समय आने पर मान जायेगी। किन्तु जब पन्द्रह वर्ष की हो गयी और अपनी बात पर डटी रही तब माँ हार कर कहने लगी 'किसी एक से विवाह कर'। वह बोली 'मेरे से अधिक सुन्दर, सुशील, सहृदय मिलेगा तो ब्याह करूँगी'। वेश्या की पुत्री से कौन विवाह करे! माँ बोली 'कुछ तो ख्याल कर'। वेदर का नवाब पास में था। उसने अपनी भोग्या बनाने का निर्णय किया, सिपाही भेजे किन्तु वह भाग गई! चित्रग्राम (चिटगाँव) के पास चित्रेश्वर महादेव का मन्दिर है जिसे चन्द्रशेखर भी कहते हैं क्योंकि सोमनाथ की तरह उसकी भी स्थापना चन्द्रमा ने की है। वहाँ ज्ञानस्वरूप नामक शंकर के भक्त थे। श्यामा की पुत्री ने वहाँ पहुँचकर

पंडों से कहा 'मैं छह दिन की भूखी हूँ' पंडे मजाक करने लगे! किसी समझदार व्यक्ति ने कहा 'ज्ञानस्वरूप के पास जा'। उन्होंने पूछा 'तुम कौन हो'? वह रो पड़ी 'अगर बता दिया तो तुम यहाँ खड़ी न रहने दोगे'! उसने सबको विदा करके पूछा तो लड़की ने बताया 'नवाब ने आक्रमण कर दिया अत: भाग कर आई हूँ। आप यदि आश्रय नहीं देंगे तो समुद्र में जाकर शरीरान्त कर लूँगी'। उन्होंने कहा 'भगवान् शंकर की तरफ दृष्टि करती हो तो अनिष्ट नहीं होगा'।

भगवान् शंकर के स्वरूप का वर्णन रोज़ सुनती थी। सोलह साल की उम्र होते-होते शिव का चित्र अंकित हो गया था हृदय में। उसने जीवन का निर्णय किया 'मैं शंकर से ही विवाह करूँगी। मेरे मन के भाव उनमें ही हैं'। ज्ञानस्वरूप ने समझाया कि यह टेढ़ा मार्ग है—**'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'** तेज़ छुरे की धार पर चलने जैसा है परमात्मा से विवाहित रहकर जीवन बिताना। किन्तु उसने कहा 'यदि जीवन देना ही है तो किसी महान् कार्य के लिये दूँगी, छोटी-छोटी चीज़ों के लिये क्या मरना! महत् कार्य ही करूँगी'। उन्होंने आश्रम का काम बतला दिया। मन्दिर की साफ-सफाई, भजन पूजन आदि एकाग्र वृत्ति से करने लगी। सभी उसको काम ज़्यादा देने लगे! भगवान् का काम जानकर वह मना न करे अत: काम का बोझ बढ़ गया। एक दिन कपड़ा धोते हुए याद आया कि दूध गरम करके शिव जी का भोग लगाना रह गया था। दौड़कर जाने लगी। तभी एक बुढ़िया बोली 'दौड़ मत, गिरेगी। आराम से इस रास्ते से जाना, झट पहुँच जायेगी। वापिस आयेगी तब तक मैं तेरे कपड़े धोकर रखूँगी। आगे मकान आये तो बायें मुड़ जाना, वहाँ दरार पार कर लेना'। वह चली गयी। दरार में घुसी तो सीधा आश्रम में पहुँची। रोज़ के रास्ते से जाती तो आधे घंटे में आश्रम पहुँचती! जाकर भोग लगाया। वापस आते हुए दरार नहीं मिली अत: कुछ देर से वापिस पहुँची तो देखा कि कपड़े धुलकर तैयार थे, सूख भी गये थे। उसे आश्चर्य हुआ कि वृद्धा ने इतनी जल्दी कैसे सुखाये! बच्ची ने बूढ़ी से कहा कि लौटते वक्त दरार वाला रास्ता नहीं मिला था। उसने कहा 'फिर से जा, देख लेना, मिल जायेगा'। कपड़े लेकर चली। याद आया कि बुढ़िया के पैर तो छुली पर वापिस आई तो बुढ़िया वहाँ नहीं थी। ज्ञानस्वरूप ने वे धुले

कपड़े पहने तो उन्हें जगत् ही नहीं दिखाई दिया! समाधि की अवस्था हो गई। कपड़े जिस-जिसने पहने उन सबकी यही स्थिति होती गयी। उन्होंने पूछा, 'क्या किया, सच बता'। उसने पूरी बात बताई। ज्ञानस्वरूप रोने लगे, बोले 'तू धन्य है, साक्षात् भगवान् शंकर ने आकर कपड़े धोये हैं'!

विचार करो! बुद्धिरूप वेश्या की पुत्री वृत्ति ही है। जब संसार के नित्य बदलने वाले विषयों से सम्पर्क न रखकर निर्विकार शिव से ही स्थायी सम्बन्ध वृत्ति का हो जाता है और तदनुरूप शिवसेवा में तल्लीन हो जाती है तो जो समाधि की अनुभूति होती है वही सच्ची धन्यता है।



## प्रवचन चतुर्दश (२१.०९.१९६९)

शिवसङ्कल्पसूक्त के आधार पर परमात्मतत्त्व अपनी ज्ञान, इच्छा, क्रिया शक्तियों द्वारा कैसे व्यक्त होता है यह बताया। प्रज्ञान, चेतः और धृति में ज्ञान का विकास, अन्तर्ज्योतिः में इच्छा कहकर तब उसका क्रियारूप प्रकट किया। उस परमात्मा से स्वाभाविक प्रेम ही जीव के पूर्ण विकास का हेतु बन सकता है। संसार में अनेक पर-रस हैं किन्तु एक ही स्वरस है। पररस भेदमूलक और अनेकता से युक्त है। स्वरस अभेदमूलक है। पराङ्मुख होने से भेदरस की उपलब्धि विषयों की ओर जाने से होती है। प्रत्यङ्मुख होने से स्वरूप-रस प्राप्त होता है। स्वराग के दृढ होने से अन्तःकरण में परमशिव का आवेश होता है अर्थात् जीव की सारी प्रवृत्ति आवेशाधीन होती है। तब एकमात्र उसी का विचार प्रवहित होता है। चिन्तन *किया* जाता है, चिन्ता *होती* है—यह इन दोनों में अन्तर है। चिन्तन में कर्त्ता की प्रधानता है जबकि चिन्ता में प्रमेय की प्रधानता है। इच्छा न होने पर भी वृत्ति-प्रवाह अखंडित है तो चिन्ता कही जायेगी। यथा पुत्र के बचनेकी आशा नहीं, एक ही विदेशी औषधि लाभ करेगी। पत्र लिख दिया गया, अभी विदेश से उत्तर नहीं आया। यद्यपि दुकान में व्यवहार कर रहे हो, तथापि मन कहता रहता है 'चिट्ठी क्यों नहीं आई?' चिन्ता हटाना चाहते हो पर हटती नहीं। चिन्तन प्रयास पूर्वक होता है किन्तु चिन्ता प्रयास से भी हटती नहीं। न चाहते हुए भी परमेश्वर को लेकर

अनायास विचार-प्रवाह चलता रहे, तब है चिन्ता की पराकाष्ठा। इच्छा-शक्ति की पूर्णता से अनायास इष्ट विषय का चिन्तन होता है। चिन्ता तभी होती है जब घनिष्ठ सम्बन्ध ऐसा हो कि लगे 'उसके बिना प्राण रहेगा नहीं, जियेंगे भी तो मरे के समान'। ऐसी स्थिति में चिन्ता होती है। सामान्यतः शिव हम लोगों की दृष्टि में ऐसा तत्त्व है जो नहीं मिला तो काम चल ही रहा है, मिल गया तो ठीक है! ऐसा आन्तरिक निश्चय नहीं कि उसके बिना मरे हुए समान हैं। यह निश्चय कैसे हो? जब परमात्मा स्पष्टतः हृदय में उद्भासित हो जाए तभी परमात्मा से सम्बन्ध होगा।

यह रसिकता शिवानन्दलहरी (श्लो. ५३) में बतायी—

**'आकाशेन शिखी समस्तफणिनां नेत्रा कलापी नता-**
**नुग्राही प्रणवोपदेशनिनदैः केकीति यो गीयते।**
**श्यामां शैलसमुद्भवां घनरुचिं दृष्ट्वा नटन्तं मुदा**
**वेदान्तोपवने विहाररसिकं तं नीलकण्ठं भजे' ॥**

यहाँ मोर का रूपक दिया गया है। शिवरूप मोर वेदान्त नामक उपवन में विहार का रसिक है, वहीं उपलब्ध होगा। शिखी, कलापी, केकी और नीलकण्ठ—ये मोर के नाम हैं और भगवान् का भी उल्लेख करते हैं। कुछ नामों का अर्थ नामवाले में मिलता नहीं जैसे किसी अंधे का नाम हो कमलनयन या भिखारी का नाम हो धनपति; ऐसों को रूढ नाम कहते हैं। कुछ नामों का अर्थ नामवाले में मिलता भी है जैसे कमल पंक अर्थात् कीचड़ में उपजता है और पंकज कहलाता है। ऐसों को योगरूढि कहते हैं। शिखी आदि इसी तरह के नाम हैं मोर के और इनके अर्थ भगवान् शंकर में भी उपलब्ध हैं। मोर के सिर पर शिखा, कलगी होती है, शिव की शिखा है आकाश! ऊँचा होना आकाश व शिखा में समान है अतः आकाश शिखा है। वस्तुतः आकाश यहाँ हृदयस्थ विवक्षित है 'अन्तर्हृदय आकाशः' जिसे कहा है। उसी की ओर 'ज्योतिरन्तः' से शिवसङ्कल्पसूक्त संकेत कर रहा है। अन्तर्हृदय में स्थित आकाश परमेश्वर के दर्शन का, उपलब्धि का स्पष्ट स्थान है। जब मनोवृत्ति बाह्याकाश से, उसमें होने वाले विषयों से हटकर अन्दर के आकाश में जाये तभी शिवदर्शन सम्भव है। विषयों में न जाकर अन्दर

आनन्द आये तभी परमात्मा की ओर गति हो रही है यह समझा जा सकता है। जैसे पत्थर अनेक हैं पर शालग्राम में ही विष्णु की उपासना विहित है वैसे संसार में सभी चीज़ों में से हृदय के भीतरी स्थान में ही परमेश्वरोपासना विहित है। मन स्वभाव से, स्वरसत: वहीं रहता है। काम, क्रोधादि प्रेरक उसे बाहर फैंकते रहते हैं लेकिन वे कार्यकारी न होने पर स्वभाव से जहाँ मन का स्पन्दन होता है वह हृदयाकाश शिव की शिखा है।

मयूर कलापी, कलाप वाला भी होता है। पंखों का फैलाव कलाप कहा जाता है। समस्त फणधारियों का नेता वासुकि नाग भगवान् शंकर का कलाप या शिरोभूषण है। चंचल होने से मन ही सर्प है। क्षण-क्षण में मन परस्पर विरुद्ध विचार, कामनाएँ करते हुए अपना चांचल्य प्रकट करता है। जैसे पंख फैले हों तो वह मोर का ही विस्तार दीखता है ऐसे मन भी आत्मा का ही विस्तार प्रतीत होता है। वासुकि भी मन है क्योंकि अनन्त जन्मों की वासनाएँ उसमें संगृहीत हैं।

मोर 'के-का' ऐसी आवाज़ करने से 'केकी' कहलाता है। भगवान् शंकर, उन्हें जो प्रणाम करे उस पर अनुग्रह कर उसे प्रणव (ॐ) का उपदेश सुनाते हैं, वह ओंकार का निनाद ही उनकी 'के-का' ध्वनि है। यद्यपि परमात्मा नित्य ही प्रणवध्वनि करते हैं तथापि उसे अधिकारी ही ग्रहण कर पाता है जैसे सहृदय ही काव्य की 'ध्वनि' ग्रहण करता है। कोई व्यक्ति किसी परिचित से घोड़ा उधार माँगने गया। घोड़े वाले ने कहा 'मेरा घोड़ा कहीं बाहर गया हुआ है अत: तुम कोई अन्य व्यवस्था कर लो'। वह आदमी लौटने लगा तो घुड़सालसे घोड़ा हिनहिनाने की आवाज़ आयी। उसने सोचा कि मालिक की जानकारी के बगैर घोड़ा लौट आया होगा अत: पुन: आकर घोड़े वाले से बोला 'घोड़ा तो भीतर बोल रहा है'। घोड़े के मालिक ने कहा 'तुम घोड़े की बोली समझते हो, क्या मेरी बोली नहीं समझते! चलो, स्पष्ट शब्दों में कहता हूँ—नहीं देता तुम्हें घोड़ा, चले जाओ।' जैसे लोक में भी योग्य व्यक्ति ही ध्वनि, अभिप्रेतार्थ समझता है ऐसे जो शिव को प्रणत हो, उनकी कृपा महसूस करे, वहीं उनके उपदेश से अवगत होता है। प्रकृति में शान्ति में जो आवाज़ है, कान बन्द करने से भीतर जो आवाज़ है, उसे भक्त भगवान् का ओंकारोपदेश समझ लेता है ऐसे [illegible] [illegible] संवाद अनुभूत होगा।

काले बादल देखकर मोर नाचता है। भगवती भी श्यामा हैं जिन्हें देखकर भगवान् नाचते हैं। जलभरे बादलों के रंग की ही भगवती पार्वती हैं। वे 'शैल' पर्वत से 'समुद्भव' वाली हैं। जैसे प्रार्थनापूर्वक ही दक्ष ने भगवती को पुत्री बनाया लेकिन यह सब भूल गया, भगवान् से व्यवहार ग़लत करने लगा, ऐसे हमारा मन कब बदले इसका कोई ठिकाना नहीं अतः यही मानो दक्ष भी है। भगवती 'शैल' अर्थात् अचल पहाड़ से उद्भूत होकर सम्मुख हों तब भगवान् प्रसन्न हो नाचते हैं। मन में स्थिरता के बग़ैर वहाँ देवी का वह आविर्भाव सम्भव नहीं जिससे शिव प्रसन्न हों। चंचल मन में हुआ भी विद्याविर्भाव अदृढ ही रहता है, मोक्ष के लिये अपर्याप्त ही होता है।

शिव 'मुदा' प्रसन्नता से नटन करते हैं। भरत नामक नाट्याचार्य ने नटन का स्वरूप कहा है—

**'दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।**
**विश्रान्तिजननं काले नाट्यम् एतद् भविष्यति॥**

**धर्म्यं यशस्यम् आयुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।**
**लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति'॥**

नाट्य का प्रभाव बताया, जिससे दुःख-पीडितों को समय पर विश्राम मिले, श्रम से थकों को मौके पर आराम मिले, शोकसन्तप्तों को ढाढस मिले तपस्वियों को विश्रान्ति प्राप्त हो। पुनः पुनः विचाररूप तप से थकान दूर करना भी नाट्य का एक प्रभाव है। 'काले' अर्थात् समय-समय पर आराम देना लौकिक नाट्य का कार्य है जबकि सनातन विश्राम शिव के नटन से मिल जाता है। नाट्य की विशेषता कही—धर्म्य, वह धर्म से विरुद्ध नहीं, तदनुकूल होता है। वर्त्तमान कला-विदों के विचारों से यह वैदिक चिन्तन का अन्तर है। हम नाट्यादि भी धर्म्य होना ज़रूरी मानते हैं। अधर्म दुःखहेतु है अतः विश्राम के लिये भी अधर्म एकत्र हुआ तो वास्तव में दुःख को ही बढावा मिलेगा, जिस लाभ के लिये नाट्य में प्रवृत्ति थी वही नहीं प्राप्त होगा। किंच नाट्य **'यशस्य'** यश-प्रद होना चाहिये। जिस कार्य से कीर्ति हो वह यशस्य हुआ करता है। नाट्य खेलना और देखना दोनों कीर्ति-प्रद होते हैं। जैसे तीर्थादि में देवदर्शन करने से 'अच्छा किया' ऐसी कीर्ति होती है वैसे

नाट्य का प्रेक्षण भी कीर्ति दे तो वह यशस्य है। जितना उत्तम प्रदर्शन होगा उतना उसका प्रेक्षक सौभाग्यशाली माना जायेगा। चेतन का प्रयास हमेशा समान न होने से प्रत्येक कार्यक्रम का अपना वैशिष्ट्य हुआ करता है, उसमें हर मौके पर नट ऐसा नाट्य करे कि प्रेक्षक स्वयं को धन्य समझे, यह नाट्य की दर्शकों के लिये यशस्यता है। आयुःप्रदता नाट्य में इसी से है कि दुःख प्राणी को मानो खाता है, दुःख भुला देता है अतः नाट्य आयुर्हेतु हो जाता है। जीवन के मूल उद्देश्य का सूचक बनकर हितकर एवं जीवन के लिये ज़रूरी उपदेश सुझाने से बुद्धि बढ़ाने वाला हो जाता है। भरत ऋषि लौकिक भी नाट्य में ये गुण बताते हैं तो शिवनटन में इनकी समग्रता का क्या कहना! ऐसा नृत्य करने वाले नीलकण्ठ शिव वेदान्तरूप उपवन में विहार के रसिक होने से उनके दर्शनार्थ निरन्तर वेदान्तचिन्तन में तत्परतापूर्वक संलग्न रहना होगा।

राजा पुरूरवा एक बार युद्ध में हारकर पत्नी बच्चों सहित भागा। शनि के राज्य में पहुँचा। धूप तेज़ थी, राजा को बिना छत्र रहने का अभ्यास नहीं था। मूर्च्छित होकर गिर गया। पत्नी चिल्लाने लगी 'बचाओ बचाओ'। किसान आये, पानी छिड़का तो होश आया। पूछा 'कौन हो?' बोला 'पुरूरवा के राज्य में युद्ध की मारकाट से प्राण बचा कर आया हूँ। तीन दिन से भूखा हूँ'। उन्होंने घर बुलाया, खिलाया, पिलाया। दो-एक दिन बाद वह भी खेती का काम करने लगा। पूर्णिमा आई। उस राज्य में सब खेती राजा की होती थी, पखवाड़े में, पन्द्रह दिन बाद वेतन मिलता था। काम आदमी करे, वेतन लेने घरवाली जाती थी। किसानों ने राजा से कहा 'जयप्रदा (पत्नी) को भेज दो'। वेतन देते समय शनि ने देखा 'यह औरत मज़दूर की पत्नी-सी नहीं लगती है'। उसके चलने-बोलने से धीरे-धीरे यह भावना दृढ हो गई कि वह महलों में रहने लायक है। शनि ने आज्ञा दी कि इसे मेरे पास भेज देना। जैसा राजा वैसा सेवक! दरबान को देख कर सेठ का पता लगता है। मालिक कहे कि मुनीम चोर है तो हो नहीं सकता कि मालिक ईमानदार हो! राजा का स्वभाव सेवक जानते थे। जयप्रदा से कहा 'राजा ने याद किया है। अन्दर के कमरे में राजा हैं'। कह कर दरवाज़ा बन्द कर ताला लगा दिया। राजा पूछने लगा 'तुम कौन हो?' उसने बताया। 'रुपया, कपड़े आदि चाहिये तो ले

जाना'। जयप्रदा ने कहा 'मेरे पास काफी हैं'। राजा ने कहा 'अभी आता हूँ'। वहाँ एक बक्सा रखा था उसको खोलकर जयप्रदा अन्दर चली गई, संकल्प किया 'जब तक पति का हाथ न लगे यह बक्सा नहीं खुले, न मुझे भूख लगे न प्यास'। राजा सजधज के बाहर आया। आवाज़ लगाई, दरवाजा खट-खटाया—क्रोध में बोला, उस औरत को क्यों गायब होने दिया?' बक्सा खोलने की कोशिश की तो वह नहीं खुला। ज़ोर से खटखटाने पर भी न टूटा, न खुला। राजा घबराया कि कोई देवी या माया है। गाँव के लोग आकर कहेंगे तो औरत कहाँ से लाऊँगा! उधर औरतों ने गाँव में खबर दी तो पुरूरवा शस्त्र-अस्त्र लेकर चला। राजा को सूचना दी। राजा बाहर आया, 'आज तो मैं मज़दूर हूँ अतः द्वन्द्वयुद्ध करूँगा। तुमने मेरी पत्नी को गायब किया है'। प्राचीन युग था। राजा दूसरों के कन्धे पर रख कर बन्दूक नहीं चलाते थे। राज्य करता था तो राजा को योद्धा भी होना पड़ता था। भारत आज ऐसा देश है जहाँ के राजा को युद्ध-शिक्षा की योग्यता आवश्यक नहीं मानी गई। जिसे लकड़ी की तलवार भी चलानी न आवे वह यहाँ आज्ञा देता है कि दूसरे देश पर पैटन टैंक चलाओ! जिसे रोज़गार दफ्तर से १००० रु. की नौकरी भी नहीं मिल सकती वह कहता है व्यापार का राष्ट्रीयकरण कैसे हो! जो दसवीं कक्षा के छात्रों को पढ़ाये तो छात्र फेल हो जाएँ, वह शिक्षा कैसी हो—यह बताता है! द्वन्द्वयुद्ध हुआ। भोगी में बल नहीं होता। पहले ही वार में पुरूरवा ने शनि का हाथ काट डाला। उसे अफसोस हुआ, कहा 'तुझे मार कर क्यों हत्या करूँ! बताओ सच क्या हुआ?' उसने बताया, 'इस बक्से में गई थी, बाकी पता नहीं क्या हुआ'। राजा पुरूरवा ने बक्से पर हाथ रखा तो वह झट बाहर निकल आई। शनि ने पुरूरवा से कहा 'तू ही पूर्ण अधिकार से राज्य चला'।

पुरूरवा जीव है। 'अशनि' वज्र को कहते हैं अतः जो मुलायम हो वह शनि है। भोगलालसा शनि का राज्य है। जहाँ इन्द्रियों पर अशनिरूपी दण्ड, वज्र नहीं चलाया जाता वहाँ भोग-परायणता कायम रहती है। इन्द्रियों पर शासन न करने से वहाँ दीनता रहती है। जीव की बुद्धिरूप पत्नी जयप्रदा है। शनि चाहता है कि इसकी बुद्धि खराब कर दूँ तो काम बने। जब इन्द्रियों को खुली छूट देते हो तो वे बुद्धि भ्रष्ट करना चाहती हैं कि उचित बात न

सोची जाय। उस दशा में जीव भी युद्ध में हार जाता है। फिर जब तप:पूर्वक नियन्त्रण में रहकर समर्थ होता है तभी शनि का सामना कर पाता है। यद्यपि बुद्धि बक्से में बन्द अर्थात् विचार में प्रवृत्त न होने से कुण्ठित रही तथापि सफलता का मूल है कि उसकी पतिव्रतता स्थिर रही, उसी के बल से सुरक्षित रही। बुद्धि शिवनिष्ठ रहे तभी तप शनि को परास्त कर पाता है। इन्द्रियाराम, भोगपरायण तो शिवलाभ से वंचित ही रहेगा। पदार्थों में प्रियता की दृष्टि ही भोग में प्रवृत्ति कराती है। शनि को नष्ट करना उद्देश्य नहीं, उस पर, देहेन्द्रियसंघात पर नियन्त्रण रखना इष्ट है। इस क्रम से ही बुद्धि विकसित रूप को प्राप्त कर पाती है। तभी वास्तविक नाट्यमय जीवन मुक्त पुरुष का सम्भव होता है जिसका परमादर्श शिव का वेदान्तनृत्त्य है जिसे दृष्टि में रखकर ही आचार्य भरत ने लिखा—

'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नाऽसौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यद् न दृश्यते' ॥

कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला नहीं है जो शिव के नाट्य में सहयोगी न बने। तब जाकर शिवचिन्तामयी वृत्ति बनती है। शिल्प, कला, विद्या, योग सब उसी ज्ञान का नृत्य है। जिसने इस नृत्य को नहीं देखा, वही समझता है कि वेदान्त कोई स्थिति है जो आँखें बन्द करके आती है!



## प्रवचन पञ्चदश (२२.०९.१९६९)

शुक्ल यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के तीसरे मन्त्र का विचार चल रहा है जिसमें प्रार्थना है कि जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जाता है वह परमात्मा शिवसङ्कल्प से मेरे अन्त:करण को भर दे। परमात्मा की और जीवमात्र की भी, चाहे वह जीवन् मुक्त हो, पशु हो अथवा देव हो, सर्वत्र एकमात्र क्रिया ही दूसरों की दृष्टि में सिद्ध है। परमात्मा को अपनी शक्ति का ज्ञान प्राप्त करना सृष्टि का प्रयोजन नहीं हो सकता। बोलने की शक्ति मुझमें है पर क्रियारूप में जब वह परिणत हो तब पता लगेगा कि मैं गूँगा नहीं हूँ।जिसे किसी ने बोलते नहीं सुना, वह गूँगा माना जाएगा। जो शक्ति कभी

प्रकट नहीं हुई वह होते हुए भी नहीं है। उपनिषत् ने परमेश्वर की सृष्टि का प्रयोजन बताया अपनी शक्ति, अपनी महिमा को व्यक्त करना। परमात्मा का ज्ञान भी सृष्टिमूलक है : **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये यत्न किया जाये। इस निर्देश के बाद प्रश्न उठा कि वह ब्रह्म क्या है? तो उत्तर दिया **'जन्माद्यस्य यतः'** सृष्टि, स्थिति, लय करने वाला ब्रह्म है। यही परमात्मा का लक्षण किया। जब तक सृष्टि, स्थिति, लय की शक्ति का प्राकट्य न हो तब तक ब्रह्म भी हमें असिद्ध रहता है। ज्ञान तो स्वसंवेद्य है, उससे दूसरे को कोई मतलब नहीं, इच्छा (स्वतन्त्रता) भी स्वसंवेद्य है। अतः ज्ञान-इच्छा स्तर तक स्वसंवेद्यता है। पर तुम्हारी क्रिया पर-संवेद्य है, दूसरा तुम्हारी क्रिया को प्रत्यक्ष देखता है। परमात्मा यदि देवता है तो सृष्टि का संचालन करता है, मनुष्य है तो मनु के निर्देशानुसार क्रिया करता है, पशु है तो स्वार्थ के लिये ही क्रिया करता है। जीवन् मुक्त और संसारी का भेद क्रिया में होगा। यदि क्रिया द्वारा प्रकट न हो तो आत्मज्ञान की अप्रसिद्धि रह जायेगी, किसी की समझ में नहीं आयेगा कि अज्ञानदशा से विलक्षण ज्ञान में भी स्थिति हुआ करती है। सुरेश्वराचार्य ग्रन्थ का प्रयोजन कहते हैं कि मैंने जो बात समझी उसे लिख कर जब प्रकट करूँगा तब विद्वज्जन यह निर्णय करेंगे कि वह ज्ञान ठीक है या ग़लत। लिखना भी क्रिया है। जीवन्मुक्त जैसा जानता है वैसी ही इच्छा करता है, वैसी ही क्रिया करता है। साधारण पुरुष की ज्ञान-इच्छा में समन्वय नहीं और इच्छा-क्रिया में भी समन्वयहीनता होती है। समन्वय की परीक्षा क्रिया में है। आत्मज्ञानी की क्रिया कैसी हो? शास्त्र कहता है—

**'सर्वभूतान्तरस्थायी यस्मादेकः शिवः प्रिये।**
**तस्मात् समत्वं मूलं तु व्रतानां परमं मतम्'** ॥

प्राणिमात्र के हृदय में एक ही शिव हैं अतः समत्व ही परम व्रत है। विषमता की प्रतीति जहाँ-जहाँ हो वहाँ से निरन्तर समता की तरफ बढ़ना चाहिए। साधकावस्था में इसका अभ्यास करना होगा। वास्तविक समाधि में अपने-पराये का भेद समाप्त हो जाता है। यह मेरा शरीर, यह दूसरों का शरीर, यह मेरा पुत्र, यह दूसरे का पुत्र आदि सबमें केवल एकमात्र शिव को ही देखना चाहिए **'शिवोऽहमद्वितीयोऽहं स समाधिः परः स्मृतः'**। यह

वास्तविक समाधि ही आत्मा की पूर्ण विजय है। **'अयम् आत्मा ब्रह्म'**—पहले ही साधक को यह बताया जाता है। इस ब्रह्मरूपता में स्थिति ही आत्मा की पूर्ण विजय है।

यह स्वसंवेद्य है। मानव का चरम उत्कर्ष यही है। **'नातःपरमस्ति'**, इससे परे कुछ नहीं है। श्रवण, मनन आदि सारे अभ्यास यहाँ आकर समाप्त होते हैं। देह, मन, बुद्धि स्वतः बदल जाते हैं। सबमें पूर्ण परिवर्तन हो जायेगा। कूटस्थ स्वरूप की दृष्टि विश्वातीत है अतः उसे समझना कठिन है। तब विद्वान् का वातावरण ही दूसरा होता है! विषयरूप पदार्थों से जो हवा चल कर आती है वह भी तब शिवस्मृति कराती है जबकि हमें वासना की स्मृति होती है! महात्मा पानी भरने वाली सुन्दर स्त्री को देखकर 'जो परमेश्वर हड्डी मांस को इतना सुन्दर बना सकता है उस परमात्मा की सुन्दरता कैसी है' यह सोचकर शिव का स्मरण करता है। पर्वत के उन्नत शृंगों पर, शिव के वातावरण में, साधारण आदमी का दम फूलता है, लगता है 'मैं कहीं मर न जाऊँ'! इसीलिये व्यवहार के नाम पर सारी विषमताओं को ले आता है। जैसे वहाँ साँस फूलने लगती है वैसे नाम-रूप कटने पर छटपटाहट होती है। यह इसलिये कि हम माया की दृष्टि से देखते हैं। वह विश्वातीत दृष्टि से देखता है। मनुष्य का शरीर मिट्टी से आता है : मिट्टी से ही अनाज उगा, वह मिट्टी रूप ही है। वही इस शरीर को बनाता है। उस जड मिट्टी को कितनी बड़ी योग्यता प्राप्त हुई कि वह चेतन बन गई! यही मिट्टी अन्त में पुनः पृथ्वी को पुष्ट करने वाली खाद बनेगी। इस प्रकार आध्यात्मिक चेतना मानो अति निम्न चेतना से ऊपर उठी। अल्पज्ञ अल्पशक्तिमत्ता से सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् बने तो पुनः इस आत्मशक्ति को पूर्ण करने के लिये पुनः अल्पज्ञ (बद्धजीवों) की तरफ ही तो जायेगा। यही लोकोपकार का सूत्र है। इस प्रकार एक प्रतिबिम्ब चेतना साधनाओं द्वारा यदि ब्रह्मस्थिति में पहुँची है तो अब प्रतिबिम्बमात्र में वही विकास लाना—यही लोकोपकार की दृष्टि है। मन को नियन्त्रण में सभी करते हैं लेकिन उतना ही पुरुषार्थ नहीं, तत्त्व की प्राप्ति के लिये मन को नियन्त्रित करना है, बुद्धि को उसी दिशामें लगाना है जिससे हमें आनन्दस्वरूप ज्योति का निश्चय करना है। बिजली प्रकाश फैला कर वहीं पहुँचती है जहाँ से चली थी, उसका गतिचक्र (सर्किट) तभी पूरा होता है।

इसी प्रकार अपूर्ण से पूर्ण तक पहुँचकर पुनः अपूर्ण का स्पर्श हो, अज्ञको मार्गदर्शन मिले, तब विद्याचक्र पूरा हो। सत् का चक्र चित् से गुज़रकर आनन्द में पहुँचा तो पूर्णता के लिये अब पुनः वह सत् में पहुँचेगा।

अनीश्वरवादी अथवा वेदान्त के विरोधी इस पूर्णता से ही मार खा जाते हैं! ईश्वरवाद पर लोगों का लांछन है 'तुम अपनी मुक्ति के लिये समाज से दूर रहते हो, समाजविरोधी हो'। इसका वास्तविक उत्तर जीवनमुक्त है क्योंकि वह विश्वातीत रहते हुए भी लोककल्याण के लिये निरन्तर प्रवृत्ति करता है। विरोधियों को इस स्थिति पर विश्वास नहीं होता क्योंकि मानते हैं कि जंगल में जाने तक आध्यात्मिकता है, वहाँ से आने पर नहीं। यथा बच्चा स्कूल में सदा बने रहने के लिये नहीं जाता वैसे सिद्धिपर्यन्त ही साधना अपेक्षित है। एकान्त में शम, दम, श्रवण, मनन से जीवनमुक्ति पा लेने के बाद, प्राणिमात्र में जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है उसमें अपने आपको देखना ही मानवता की चरम परिणति है। अन्तःचेतना पूर्ण होने के कारण इन सब व्यवहारों में दृष्टि 'पूर्ण' रहती है। विद्वान् समाधि के अन्दर जाने के बाद मूर्ख बनकर बाहर नहीं निकलेगा! जैसे अविचारशील सुषुप्ति से वापिस भी अविचारशील बना हुआ ही आता है वैसे विद्वान्। समाधि से सर्वज्ञ बनकर ही निकलेगा। वह पूर्ण व्यवहार की शक्ति लेकर निकलेगा अतः व्यवहार में त्रुटि नहीं होगी। समता का अभिवर्धन कैसे हो—इस पर दृष्टि रहती है।

चरक, कपिल, कणाद भी समाधिनिष्ठ थे। आज के वैज्ञानिक इस श्रेणी के नहीं हैं इसीलिये उनके आविष्कार कालान्तर में खण्डित हो जाते हैं। हमारे प्राचीन वैज्ञानिकों को सारे विज्ञान के सिद्धान्त नहीं पता थे, पर जितना पता था वे आज तक सत्य हैं, खण्डित नहीं हुए। कपिल का त्रिगुणता से मन की स्थितियों को समझने का सिद्धान्त, कणाद का अणु की शक्ति का प्रतिपादन आदि सभी आज तक सत्य हैं। आज से तीस साल पहले तक **'अणवः सर्वशक्ताः स्युः'** इस वाक्य का वास्तविक अर्थ नहीं लगता था! जब अणुविस्फोट से सारी शक्तियाँ निकली तब समझ आया कि कणाद की दृष्टि कितनी गहरी थी। कणाद ने परमाणु में लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई नहीं मानी, यह ज्ञान आज भी खण्डित नहीं हुआ। राम, कृष्ण ने कितने बड़े राज्य चलाये, वशिष्ठ, वेद व्यास, आचार्य शंकर, अभिनव गुप्त के जीवन

के क्रम में भेद है किन्तु जीवन में शक्ति एक केन्द्र से ही प्राप्त थी। छह सौ साल पहले विद्यारण्य ने विजयनगर साम्राज्य स्थापित किया। उनका जीवन ही उनके उपदेशों पर भाष्य है। एक बार देखा कि मुसलमानों से युद्ध करते हुए, राजा घबरा रहा है तो स्वयं विद्यारण्य राजा के पास जाकर युद्ध करने लगे! कहा 'तुम आगे तो पीछे मैं हूँ, काटे बगैर मैं नहीं रहूँगा', फलतः राजा युद्ध जीत गया। आचार्य शंकर ने भारत में बौद्ध देखे, उन्हें हटाकर वेदान्त की स्थापना की।

कृष्ण के जीवन में गीता देखनी है। उनके ज्ञान, इच्छा, क्रिया में भेद नहीं था। कृष्ण का भक्त हो और उनके जीवन पर ध्यान न दे, यह सम्भव नहीं। किन्तु जीवन्मुक्त के व्यवहार को सामान्य पुरुष विस्मयान्वित होकर देखता है क्योंकि लोकोत्तर चरित्र का विश्वातीत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामान्य रूप से शिव सबके हृदय में हैं। उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध से ही इतनी अधिक शक्ति आती है। उसके विपरीत, अज्ञदशा में जब हममें वैराग्य आता है तब काम करना छूट जाता है, कहते हैं 'अपने मतलब से मतलब रखो'। महापुरुषों के वैराग्य की पूर्णता के अन्दर ही क्रिया की भी पूर्णता दीखती है। यदि हमने थोड़ा-सा धर्म का पालन शुरु किया तो अधर्मी से घृणा करते हैं, लगता है 'वह आदमी इधर-उधर खाता है, कैसे स्पर्श करूँ'? जीवन्मुक्त के अपने जीवन में धर्म की पूर्णता है पर धर्मरहित के प्रति उतना ही प्रेम भी है क्योंकि 'मैं धार्मिक हूँ' यह अभिमान उत्पन्न नहीं होता।

हममें यदि ऐश्वर्य आता है तो अनैश्वर्य के प्रति दृष्टि बदल जाती है जबकि श्रीकृष्ण का राजसूय यज्ञ में प्रथम पूजन हुआ, सारे राजाओं ने चयन किया कि वे ही सर्वाधिक ऐश्वर्यवान् हैं, वे ही प्रथम पूजन के योग्य हैं किन्तु वे भोजन के बाद सबकी पत्तलें उठाने लगे! इसी प्रकार **'रामो विग्रहवान् धर्मः'** तथा वे शबरी (निषाद) के प्रति दृष्टि ही और रखते थे! इसी प्रकार वैराग्य में पूर्ण क्रिया शंकर में थी क्योंकि उनके लिये ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, ज्ञान-अज्ञान दोनों एक जैसे थे, आठों कोण पूज्य थे—**'धर्माय-अधर्माय, ज्ञानाय-अज्ञानाय, वैराग्याय-अवैराग्याय, ऐश्वर्याय-अनैश्वर्याय नमः'**। उनमें एक साथ विरोध रह सकते हैं—

**'एको रागिषु राजते प्रियतमा देहार्धधारी हरः ।**
**नीरागेषु तथा विमुक्तललनासंगो न यस्मात् परः' ॥**

उनसे परे कोई वैराग्यवान् नहीं, उनसे बड़ा रागी नहीं! आज के रागी पत्नी के हाथ में हाथ डालते हैं, जबकि भगवान् शंकर तो आधा शरीर नारी का रखते हैं! फिर भी उनमें आसक्ति का नामोनिशान नहीं है।

वेद-स्मृति के साथ इसलिये इतिहास-पुराण भी धर्म का साधक है। श्रुति-स्मृति का पालन लोकोत्तर चरित्रों ने कैसे किया—यही उनके जीवन का भाष्य इतिहास-पुराण है। प्रत्येक महापुरुष के उपदेश का भाष्य उसका चरित्र है। जब हमारी समग्र दृष्टि संकुचित होने लगे तभी धर्म में गड़बड़ होती है। साधक अनन्त, साधकों की स्थिति अनन्त, अतः जीवन्मुक्तों के व्यवहारों में अनन्तता है। हमारे योग्य साधना को हमें जीवन में लाना है तो हमें वैसा आदर्श भी चाहिये। मुसलमान, ईसाइयों ने एक ही साँचे को समझा कि सभी एक ही आदर्श देख कर प्रेरणा लें, जबकि हमने अनन्त साँचों को सामने रखा। एक अध्यापक है, उसके सामने भी मुहम्मद साहब का साँचा रखो तो वह देखता है कि वे युद्ध करते थे, तलवार चलाने में बहादुर थे, पर अंगूठा-छाप थे! तो क्या अध्यापक तलवार चलाना सीखे? जो व्यक्ति जंगल में फलों से निर्वाह करे, वह कृष्ण को आदर्श बना कर क्या करेगा? उसे निषाद को आदर्श बनाना पड़ेगा। हमारे यहाँ आदर्शों का घाटा नहीं। व्यापारी राम के आदर्श से क्या करेगा? उसके लिये तुलाधार का आदर्श है। सभी आदर्शों में यह वेदोक्त (शु.यजु. १२.२७) प्रार्थना सफल मिलती है—

**'शिवो भूत्वा मह्यम् अग्ने अथो सीद शिवस्त्वम् ।**
**शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः' ॥**

विद्वान् परमात्मा की शक्ति में अपनी शक्ति का लय करता है। उसका अपना न ज्ञान रहता है न क्रिया रहती है। वह अकर्त्ता-अभोक्ता हो चुकता है अतः 'अपना' ज्ञान, 'अपनी' इच्छा नहीं रहती। शिव ही उसके द्वारा ज्ञान करता है, शिव ही इच्छा करता है, शिव ही क्रिया करता है। यह मुख्य लक्षण है।उसका भाव है 'जैसा जानना चाहे, शिव मेरी इन्द्रियों एवं अन्तःकरण से जाने जिस क्रिया को, जिस इच्छा को चाहे, करे। यह है

शिव से एकत्व-बोध, इसी में है स्वतन्त्रतानुभूति। क्योंकि इसमें शिव से इतर और किसी चीज़ की परतन्त्रता का नाश हो जाता है। यह बोध नहीं होता कि 'यह करना चाहता हूँ और कर नहीं पाता'। शिव के प्रमाण से मानो वह सारे कार्य करता है : जैसे मुख्तारनामा जिसके पास हो वह क्रय-विक्रय आदि में स्वतन्त्रता की अनुभूति करता है वैसे वह शिव का मानो मुख्तार हो जाने से उन्हीं की सत्ता उसमें रहती है। वास्तव में ही सारी दिशाओं में शिवरूपता भरी है। वही ज्ञान का निरन्तर स्रोत है। अपने प्रतिबिम्ब से स्नेह स्वाभाविक होता है। जब विद्वान् देखता है कि अनन्त जीवों में 'मैं' ही प्रतिबिम्बित हो रहा हूँ तो यदि उन्हें नहीं विकसित करेगा तो करेगा क्या! इसी दृष्टि से कहा **'यस्माद् ऋते किञ्चन कर्म न क्रियते'** वह कोई कर्म नहीं करता जो शिवनिरपेक्ष, शिव से भेददृष्टि रखकर किया जाये। वही परमात्मा मेरे मन में शिव संकल्प करे ऐसी प्रार्थना है। इस प्रकार तृतीय मन्त्र पर विचार किया।



## प्रवचन षोडश (२३.०९.१९६९)

शुक्ल यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय का चौथा मन्त्र है—

**येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतम् अमृतेन सर्वम्।**
**येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥**

[ *अर्थात् जिसके द्वारा इस सब कालवर्त्ती का ग्रहण होता है एवं सात होता-देवताओं के आवाहन वाले यज्ञों का विधान होता है वह मेरे मन को शिवसङ्कल्प से भर दे।* ]

जिस परमात्मतत्त्व की त्रिविध शक्तियों द्वारा सारा विस्तार हुआ, श्रुति उसी परमात्मा के विस्तृत रूप का वर्णन करती है। **'इदं भूतं भुवनं भविष्यत्'** जो भी वस्तु थी, है और रहेगी सभी का परिग्रह उसी से होता है। तीनों कालों में एक जैसा रहते हुए भी परमेश्वर काल जैसा प्रतीत होता है। जैसे सोना सुनार से गढ़ा जाकर अनेक रूपों को धारण करता है, वैसे परमात्मा को कोई अन्य व्यक्ति दूसरा रूप दे देता होगा—उसका निषेध दूसरा पाद करता है।

इस जगत् के प्रति वही निमित्त कारण भी है, वही उपादान कारण भी है। जो पहले हो और कार्य की समाप्ति पर भी रहे, वह सोना गहने का उपादान कारण है, गहना बनने से पहले भी सोना है गहने काल में भी है, गहना टूटने के बाद में भी सोना ही रहता है। जो सुनार गहना बनाता है वह निमित्त कारण है। शिव संसार के प्रति दोनों ही कारण हैं। सारे रूपों को उस अमृत ने ही ग्रहण किया है। अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ही उत्पादन के बाद इस संसार को बढ़ाता है, इसका विस्तार, फैलाव करता है। सात 'होता' वाला यज्ञ उसके द्वारा ही बढ़ाया जाता है। 'तत्' ऐसा वह परमात्मा मेरे मन को शिवसङ्कल्प से भर दे।

वह ही विस्तृत करता है तो कर्तृत्व कैसा है? प्राय: कर्तृत्व दूसरे के, कर्म के प्रति होता है जैसे 'मैं खाता हूँ'। प्रश्न होता है 'मैं किसको खाता हूँ'? उत्तर मिलता है 'दाल-भात साग खाता हूँ'। यहाँ कर्त्ता-कर्म अलग-अलग हैं। पर 'मैं सोता हूँ' इसमें 'किसको सोता हूँ'? इसका है कोई जवाब! सोने-रूपी क्रिया का कर्ता से अतिरिक्ति कर्म नहीं है। 'मैं हूँ' में भी कर्त्ता से अन्य कर्म नहीं है। 'मैं जानता हूँ' में भ्रम होता है कि अन्य कर्म होगा, पर वस्तुत: है नहीं। बुद्धिवृत्ति के सम्पर्क वाला हुआ नित्य ज्ञान ही ग़लती से अनित्य अर्थात् 'होने वाला' ज्ञान समझ लिया जाता है। कूटस्थ भी ज्ञान अज्ञजनों को 'इन्द्रियादि-व्यापार से किया जा रहा है' ऐसा प्रतीत होता है। ज्ञान उत्पन्नादि हो रहा है यह भ्रम है क्योंकि वह कूटस्थ ही रहता है। प्रत्यय या वृत्ति ही बुद्धिद्वारा बनायी जाती है, ज्ञान नहीं। वृत्ति को ज्ञान तो उपचार से, गौणी वृत्ति से कहा जाता है। मान लो काग़ज पर किसी का चित्र बनाया, उसके हाथ में पुस्तक दिखायी। विचार करो, पुस्तक भी काग़जों का समूह है। अत: काग़ज पर पुस्तकरूप काग़जकी प्रतीति भी भ्रम है, क्योंकि वहाँ पुस्तक तो है नहीं, फिर भी काग़ज कलाकार ने नहीं बनाया, वह पहले से है ही। आचार्य कहते हैं—**'ज्ञानं क्रियत इत्यज्ञाः कूटस्थम् अपि मन्यते'** मानो ज्ञानरूपी काग़ज पर घट, पट, मठ आकार खींच दिये जाते हैं तो लगता है 'मुझे घड़े का ज्ञान हो गया' किन्तु यह कहना ठीक नहीं। हुआ क्या? घड़ा भी पहले से पड़ा था, ज्ञान भी सदा है। इतना ही कह सकते हैं कि चैतन्य के काग़ज पर, बुद्धि द्वारा घड़ा आकार आँक दिया गया। दूसरा दृष्टान्त

औरतों में प्रसिद्ध है—कहती हैं 'बड़े सुन्दर बालों की वेणी बना कर आई है'। वेणी तो बनाई है, क्या बाल भी *बनाए* हैं? नाई भी बालों को सुन्दर ढंग से व्यवस्थित करता है तो कहते हैं 'सुन्दर बाल बनाये' लेकिन उसने बाल तो नहीं बनाए, वे पहले से थे। इसी प्रकार एक अखण्ड ज्ञान के अन्दर बुद्धि द्वारा परिधियोंका निर्माण होता जाता है, यही 'तायते' है, यज्ञ का विस्तार है। यही कहा है—

**'आत्मचैतन्यसंव्याप्ता वृत्तिर्धीः कुरुते यतः ।**
**ज्ञानं क्रियत इत्यज्ञाः कूटस्थमपि मन्वते' ॥**

बिना ज्ञान के, बुद्धि किस पर चित्र खींचेगी? घड़ा बनेगा तो पोल स्वयं ही घटाकाश बनेगी। घड़ा बना, घटाकाश स्वतः है। तपा लोहा लाल दीखता है, उसे जिस आकार में ढालें वह भी लाल दीखता है, इसी प्रकार चैतन्य से घिरी सभी वृत्तियाँ चैतन्य अर्थात् ज्ञान वाली ही भासती हैं। चमकती आग है, लगता है लोहा चमक रहा है, इसी तरह ज्ञान है आत्मा, लगता है वृत्ति ज्ञान है।

महीपुर गाँव में एक ब्राह्मण सबके प्रति उपकार के लिये प्रयत्नशील रहता था। सबके प्रति उसमें मित्रता का भाव था। गाँव वाले भी उसके लिये अच्छी दृष्टि रखते थे। अभी पुत्र छह साल का था कि पिता-माता मर गये। गाँव वालों ने विचार किया कि उसके पिता ने हमारा उपकार किया है अतः इसके प्रति हमारा कर्त्तव्य है। आधुनिक बुद्धिवाले कृतघ्नता को पुण्य मानते हैं! सनातन परम्परा में स्वल्प उपकार को विस्मरण करना तो पाप है—उसके प्रति दुर्व्यवहार महापाप माना गया। अन्य पापों का प्रायश्चित्त है, कृतघ्नता का नहीं। आधुनिक सिद्धान्त से, कृतज्ञता आजकल बेवकूफी का लक्षण है। आज कृतघ्नता चतुराई मानी जाती है। यह काल जब तक नहीं आया था तब तक मिडिल पास अध्यापक ने एक विद्यार्थी को दूसरी कक्षा में पढ़ाया; यह विलायत जा कर बार-एट-ला बना; वापिस गाँव आने पर वह अध्यापक के पैर छूता था। उसके मन में था कि 'उस समय उन्होंने न पढ़ाया होता तो यहाँ तक कैसे पहुँचता?' आज पढ़ाने काल में ही उसे आधा बेवकूफ मानते हैं! चंडीगढ़ के एक अध्यापक ने कहा 'यह शहर जात-पाँत का शहर है। यहाँ केवल एक जात है, पैसे की! ढाई सौ से चार सौ कमाने

वाले एक सैक्टर में रहें, चार सौ से छह सौ कमाने वाले दूसरे में रहें यों सैक्टर निश्चित हैं।हम २४वें सेक्टर में रहते हैं। लड़कों को पता लग जाता है कि मास्टर बुद्धू है तभी गरीब है। वे सोचते हैं कि हमारे पिताजी छठे सैक्टर में रहते हैं अत: समझदार हैं'। रुपयों के बढ़ने पर भी जाति बन जाती है। जो इतना ही देखता है कि इनका वेतन तो हमारे घर के चपरासी जितना है, वह अध्यापक को आदर नहीं देता। इतना ही नहीं, पाँचवीं कक्षा को पढ़ाने वाले अध्यापक को छठी कक्षा का विद्यार्थी नमस्कार नहीं करता! यह उन्नत युग का उदाहरण है। पिता चाहे बड़ी से बड़ी ग़लती कर भी देता था तो पुत्र घर बर्बाद नहीं मानता था। आज पुत्र कहता है 'पिता जी ने हमारे लिये किया ही क्या?' पिता पहाड़ में जंगली गाँव में पैदा हुए। अब पिता दिल्ली शहर में उच्च अधिकारी हैं। सन्तति कॉलेज में पढ़ रही है, बच्चे कहते हैं 'ये तो हमारा कुछ ख्याल ही नहीं करते। उनसे बड़ी उन्नति तो उस गाँव के दूसरे परिवारों ने की है'। यो कृतघ्नता, अविनय समाज की हानि के, अशान्ति के निश्चित उपाय हैं।

उस ब्राह्मण के पुत्र के लिये गाँव वालों ने विचार किया, इस बच्चे को यह अनुभूति न होने दें कि पिता के पास कुछ नहीं था। लड़का बड़ा हुआ। घर में यदि माता नहीं होती तो ताई-चाची प्रेम तो दे देती हैं लेकिन अनुशासन में कमी हो जाती है क्योंकि सभी सोचेंगे 'मैं इसे कैसे डाँटूँ'? माता-पिता में यह भावना नहीं होती, दूसरों में होती है। अत: प्रवृत्ति बिगड़ने लगती है। धर्म में भी यही है। जब यह भावना है कि यह धर्म मेरा है तभी उसकी उन्नति का प्रयत्न करता है। धर्म से क्या लाभ ले सकूँ—यह तो सब देखते हैं किन्तु धर्म के अन्तर्गत सुधार की जिम्मेदारी भगवान् की मानकर अपना दायित्व पूरा समझते हैं। कहते हैं, भगवान् ने स्वयं जिम्मेदारी ली है **'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति'** तो बड़ी से बड़ी खराबी धर्म में आ जाए तो भी मैं क्यों बुरा बनूँ? ऐसे लोग वस्तुत: द्वेष से धर्म बिगाड़ना चाहते हैं कि यह धर्म नष्ट हो जाए, युग आगे बढ़ रहा है। मंदिरादि में बिगाड़ का बखान करने वाले हिन्दू से वहाँ सुधार का प्रयास करने को कहो तो हाथ झटकता है कि हमें क्या मतलब! घर के बालक के नियन्त्रण को भी माँ-बाप एक-दूसरे पर टाल देते हैं चाहे बच्चा बर्बाद हो!

उस ब्राह्मणपुत्र में भी इसीलिये प्रमाद का प्रवेश हो गया। नाम रखा गया 'वक्रबुद्धि' क्योंकि उसकी बुद्धि हमेशा टेढ़ी चलती थी। वह तत्काल दोष दूसरों के मत्थे मढ़ देता। उसकी ग़लती पकड़ तो नहीं पाते थे पर वह बहानेबाजी में प्रसिद्ध था। उसकी पत्नी का नाम कुमुदिनी था। उसने भी समझाया कि 'कुछ काम कर'। लोगों की हमदर्दी कहाँ तक रहती? सहायता बन्द हो गई तो पत्नी समझावे 'तू पढ़ा लिखा है, पिताजी विद्वान् थे, गाँव के लोग प्रेम रखते हैं। तू कुछ नहीं करता तो गाँव की गवाँर औरतें भी हँसती हैं'। उसे पत्नी की बात नहीं जँची। पास में बाज़ार लगा करता था, पत्नी ने कहा, 'भोजन लेकर जाओ, इसे बेचकर ही कुछ पैसे बनाना'। उसने सोचा खा लेंगे, कह देंगे बिका नहीं! पत्नीने अड़ौसी-पड़ौसी से माँग कर सुन्दर भोजन बना कर दिया। वह ले गया, एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। विचार किया कि स्नान करके खा लें। वह नहाने गया। पीछे से विषधर साँप आया, उसने आदत के अनुसार अपना जहर खीर में छोड़ दिया। उधर से एक पागल हाथी आया, उसने वह खीर खाई तो चिंघाड़ा, चक्कर मार कर गिर गया! अब ब्राह्मण नहाकर आया। उसने सोचा हाथी तो मर गया, अतः दाँत काट लिये। उसे सिपाहियों ने घेरा और कहा 'राजा ने इस पागल हाथी को मारने का इनाम घोषित कर रखा है, चलो इनाम लो'। इसने वहाँ अपनी खूब प्रशंसा की तो राजा ने ५०० रुपये पर नौकर रख लिया। मकान भी मिला। किन्तु अपनी पत्नी को भूल गया!

साल-दो साल बीत गये। दूसरे राजा ने चढ़ाई की। सबने कहा 'यह बहादुर है इसी को भेजो'। उसने सोचा, न मेरी पत्नी ने खीर बनाई होती न पद मिलता न आज लड़ना पड़ता! बोला 'राजन् मैं युद्ध करने जाऊँगा। पर रात में मुझे घोड़े के ऊपर बाँध दो। कोई हथियार लेकर नहीं जाऊँगा'। राजा ने ऐसा ही किया। अपने गाँव पहुँचा। पत्नी की दीन-हीन दशा थी। पत्नी ने कहा 'आप सर्वथा क्यों चले गये?' उसने सारा हाल सुनाया, वहाँ की परिस्थिति बताई। पत्नी बोली 'इस प्रकार आये यह दुःख का विषय है। आपत्ति के समय भाग कर आना ब्राह्मणों के लायक कार्य नहीं है। चलो, मैं साथ में चलती हूँ। दूसरी फौज के विरुद्ध इस मन्त्र का प्रयोग करो। शव के ऊपर बैठ कर करना है'। वह डरा तो पत्नी ने कहा 'मैं बैठी हूँ, डरो मत'।

किन्तु उसने सर्वथा निषेध किया। फिर पत्नी ने ही प्रयोग किया। तो शत्रु फौज में महामारी फैल गई अतः फौज भाग गई। वक्रबुद्धि ने राजा के सामने अपनी शेखी बघारी तो और उन्नत पद मिला। किन्तु पत्नी को वह फिर भूल गया।

साल दो साल बीत गये। उस राज्य में शेर का आक्रमण बढ़ गया। राजा ने बुला कर शेर को मारने को कहा। बोला 'अपने ढंग से मारूँगा'। हीरे पन्ने पहने फिर पत्नी के पास पहुँचा कि 'अबकी काफी माल साथ लेकर आया हूँ'। पूछा 'आये कैसे?' बताया 'राजा शेर के चक्कर में फँसे हैं, कहते हैं उसे मारो। मेरे से मच्छर भी नहीं मरता! अब मैं तेरे साथ ही रहूँगा'। उसने कहा 'राजा की वफादारी अवश्य करो'। वह साथ गई, शेर के रहने का स्थान पूछा, नाप कर मचान बनाया जिस पर शेर न कूद सके। तलवार लेकर बैठ गई, उसे भी बैठाया। वह कहने लगा 'मैं भागता हूँ, तेरी जो मर्ज़ी सो कर'। शेर रात को आया, उसे मनुष्य की गंध आई, छलांग मारी पर थोड़ा नीचे तक ही पहुँचा कि कुमुदिनी ने ज़ोर से तलवार चलाई, शेर का सिर कट गया। पति से कहा 'सिर ले जाकर राजा को दे दो'। नीचे की ओर वार करते समय उसके हाथ की चूड़ी तलवार पर उतर कर शेर की गर्दन में फँस गई थी। मरे शेर का मुँह फटा तो चूड़ी निकल आई! मन्त्री ने समझ लिया कि मामला गड़बड़ है! राजा ने पूछा, 'यदि तू ने मारा है तो बता, बायें से दाहिनी तरफ काटा था या दायें से बाईं तरफ?' उसने कहा 'घर जा कर सोच कर बताऊँगा'। जब घिर गया तो बताया 'गाँव में पत्नी है, उसके कारण यह सब हुआ'। राजा ने हुक्म दिया कि आगे से पत्नी के ही निर्देश मान्य होंगे, वक्रबुद्धि के नहीं।

वास्तव में बुद्धि जीव की वक्र है। जैसे वह अनाथ हो गया था वैसे जीव ने माता-पिता से अपनेको दूर कर लिया, अपने को शंकर पार्वती का पुत्र नहीं मानता। स्वयं को स्वतन्त्र सत्ता वाला मानता है जबकि धन, पुत्र, पिता, पत्नी आदि अनेकों से पलता है। जीभ ने गाली दी तो कहता है 'मुँह से निकली' अमुक काम सरकार के कारण किया, अमुक जनता के दबाव से इत्यादि सर्वत्र दूसरों पर दोष देता है। ज्ञानरूपी पत्नी ठीक शिक्षा देती है। बाज़ार जाकर कर्म में प्रवृत्ति करता है। कर्म से सर्प रूपी वासना आती है तथा

काम रूपी हाथी मारा जाता है! किन्तु संवित् की प्रेरणा न मानकर खुद कर्त्ता बन जाता है। कर्म में खुद रस लिया तो शत्रु रूपी कामना, वासना आई। संवित् फिर उपासना बताती है। उपासना मानसी क्रिया है। खुद संवित् ने जीव को उपासना का फल दिया परन्तु जीव फिर भूल जाता है। जब अज्ञानरूपी शेर के चक्र में फँसता है तब फिर संवित् की शरण में जाता है। ज्ञान ने ही अज्ञान का नाश किया तो भी चाहता है कि 'मुझे उसकी प्रतिष्ठा मिले'। जैसे चूड़ी फँसी वैसे अज्ञान का नाश वृत्तिरूप ज्ञान ही करेगा, यह आत्मा का काम नहीं है।

वास्तव में आत्मा अधिष्ठानमात्र है अत: निमित्त व उपादान दोनों है लेकिन तत्तत् कार्यों के लिये उपाधि-परामर्श आवश्यक है जिससे भ्रम हो जाता है कि विभिन्न उपाधियाँ हेतु होंगी। आत्मा की सत्य कूटस्थता और औपाधिक व्यवहार इन दोनों को समझने वाला ही वास्तव में शान्त रहता है।



## प्रवचन सप्तदश (२४.०९.१९६९)

शिवसङ्कल्पसूक्त का पाँचवाँ मन्त्र है—

**यस्मिन् ऋचःसामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।**
**यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥**

[ *रथ-चक्र की नाभि में अरों की तरह जिस परमेश्वर में ऋगादि एवं प्रजाओं का सारा चित्त प्रतिष्ठित है, प्रोत है, वह मेरे मन को शिवसङ्कल्प बनाये।* ]

प्रथम मन्त्र में तत्त्व बताया, द्वितीय एवं तृतीय में साधना का विस्तार बताया, चतुर्थ में उसे अभिन्न निमित्तोपादान बताया, अब पाँचवें में उसे अधिष्ठान बताते हैं—उस परमात्मा में ही सब अधिष्ठित है। उसके बग़ैर सत्ता भी नहीं रहती! वही एकमात्र सद्रूप है। जैसे चीनी के न रहने पर मिठाई की सत्ता नहीं वैसे सद्रूप शिव के बिना जगत् नहीं है। बढ़िया से बढ़िया

साग-दाल बना लो, नमक न पड़ा तो कुछ स्वाद नहीं आता। चटनी-अचार, साग-दाल सभी नमक से सत्ता वाले हैं, रसगुल्ला, गुलाबजामुन, जलेबी की सत्ता चीनी से है, इसी तरह संसार के सब पदार्थों की सत्ता परमात्मा से है।

सबसे पहले बताया कि ऋक्, साम, यजु उसी में प्रतिष्ठित हैं। ऋक् के द्वारा देवताओं के स्वरूप का प्रतिपादन, साम के द्वारा आनन्द के स्वरूप का प्रतिपादन और यजु के द्वारा उस आनन्दरूपी परमात्मा को प्राप्त करने के तरीके का प्रतिपादन किया गया है। यह ज्ञानराशि परमात्मा के सबसे नज़दीक है। वेदों का प्राचीन विभाजन यही था। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद—ये विभाग हैं। किन्तु यह न समझना कि अथर्ववेद बाद में बना है! क्योंकि अथर्ववेद के मन्त्र भी उक्त तीन ही विषय बताते हैं इसलिये उसका इन्हीं नामों से उल्लेख समझा जाता है। रथचक्र की नाभि में ताड़ियों के स्थित होने से बताया कि सत्य को आनन्दरूप जानकर उसे प्राप्त करने का तरीका अपनाकर उससे प्राप्त पदार्थों को उसी सत्य में प्रतिष्ठित करो। जो इस ज्ञानमार्ग में वेद-सम्मत मार्ग से चलेगा, वही उसमें प्रतिष्ठित हो सकेगा। कई लोग धर्म में धन का उपयोग नहीं कर पाते। चाहे जिस प्रकार पदार्थ प्राप्त करो तो धर्म में विनियोग नहीं हो पाता। शास्त्रसंमत तरीके से कमाया धनादि ही धर्म में काम आ सकता है। अत: कहा कि वेदरूप ज्ञानोपाय, साधन एवं साध्य पदार्थ जिसमें स्थित हैं उसी में सबका चित्त भी ओत-प्रोत है। ऐसे चित्त को परमात्मा ही शिवसंकल्प वाला बनाता है।

अनन्त परमात्मतत्त्व, जिसमें अनन्त जीव, जिसमें अनन्त ज्ञान का समावेश वही अनन्त चतुर्दशी है! चतुर्थी से प्रारम्भ होकर चतुर्दशी तक नियम पालन करने होते हैं। इस अभ्यास से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। इसका नियम प्रतिमास चलता है। बृहन्नारदीय पुराण में कथा है कि राजा हेमाद्रि चक्रवर्ती एवं प्रतापी थे। प्रत्येक पक्ष में प्रदोष का व्रत करके चतुर्दशी के पालन का उनका नियम था। कुछ चतुर्दशी विशेष रूप से प्रधान हैं जैसे फाल्गुन में कृष्णपक्ष की शिव चर्तुदशी एवं भाद्र में शुक्लपक्ष की अनन्त चतुर्दशी, जो आज है। प्रदोष में आँवले से स्नान कर दिन में बिल्व के अतिरिक्त किसी चीज को ग्रहण नहीं किया जाता। त्रयोदशी को जागरण तथा

रात्रि भर सामवेद का पाठ करना चाहिये, यदि स्वयं न कर सके तो ब्राह्मण से कराये। इस प्रकार राजा सारा समय वेद के विचार में बिताता था। प्रात:काल चतुर्दशी का नियम से पालन करता था। प्रजा भी इसी नियम से रहती थी। किसी भी दिन प्रातः शंकर का पूजन किये बिना घर में कोई जल भी ग्रहण नहीं करता था।

उसके राज्य में कलि और शनि मृतवत् थे। उन्होंने आपस में सलाह की—'किसी तरह राजा व्रत से नष्ट हो जाए तो काम हो। चक्रवर्ती राजा है—धनादि के लोभ से तो धर्म से हटाया नहीं जा सकता। इस कार्य के लिये एक स्त्री का निर्माण करें'। उन्होंने कन्या उत्पन्न की, उसका नाम विलासिनी रखा। सुन्दर तथा संगीत नृत्य में पारंगत एवं गुण वाली थी। उसकी सुन्दरता, नृत्य, गान, गुण देखकर पहाड़ भी मोह में पड़ जाए तो जीवित का कहना ही क्या! उसने पूछा 'हमें किस कार्य के लिये उत्पन्न किया'? दोनों ने कहा, 'चक्रवर्ती राजा हेमाद्रि, उसकी पत्नी संध्या और पुत्र विशिख तीनों शिवपूजन में रत रहते हैं। इनकी देखा-देखी प्रजा भी ऐसी हो गई है। राजा इस धर्म का परित्याग करे तो हमारा काम बढ़िया बने। तुम राजा हेमाद्रि को अपने धर्म से च्युत करो'। कलि-शनि से उसने कहा 'करूँगी'। वह मन्दराचल गई। वहाँ पर दस हाथ का शंकर का नीलम मणि का लिंग है, पहाड़ सोने की सुन्दर जलहरी की शक्ल का है। उसका नाम है वृषेश्वर। इधर, हेमाद्रि ने सोचा 'मेरी उम्र वानप्रस्थ की है और लड़का भी बड़ा हो गया है। शास्त्र ने प्रौढावस्था को पार करते ही वन जाने की विधि कही है।' राजा, राज्य को अकस्मात् न छोड़ कर धीरे-धीरे राज्य करना सिखाना चाहता था। उसने मन्त्री से कहा 'मंदराचल के वृषेश्वर में, मैं एक वर्ष पूजन करना चाहता हूँ, तब तक विशिख राज्य सँभाले, आप सहयोग करना। कोई बात हो तो खबर दे देना'। मन्त्री बोले 'कुमार योग्य हैं'।

राजा वृषेश्वर पर निवास करते थे। आरती के समय विलासिनी, सायंकाल में वहीं नृत्य गान आदि करती थी। राजा प्रभावित हुए कि बिना किसी स्वार्थ के सेवा कर रही है। व्यवहार बढ़ा, मोह का उदय हुआ। विलासिनी ने प्रदोष के दिन, प्रदोष काल में, राजा के बिल्व भक्षण के नियम के दिन कहा 'मैंने स्वादिष्ट बिल्व पाक बनाया है, इसे खा लें'। उसमें उसने

चतुराई से अन्न की सामग्री डाली थी! अन्न के जाने से बुद्धि में मोह का प्रवेश हो गया। अन्न ही मन का नियामक है। मोह का यह परिणाम हुआ कि सन्ध्या के समय, भगवान् का पूजन न करके, अग्निहोत्र का काल बातचीत में व्यतीत हो गया। इन्द्राय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, ये दो आहुतियाँ जब सूर्य आधा डूबा हो तब देनी पड़ती हैं। सूर्य अस्त हो गया, लालिमा आई तब उन्हें होश आया—**'प्रमादो वै मृत्युमहं ब्रवीमि'** ऐसा सनत्कुमार ने बताया है। मनु ने कहा है कि मृत्यु या तो वेद के अभ्यास में प्रमाद करायेगा अथवा सदाचार छुड़ायेगा। ऐसा लगता है प्रमादी को कि—थोड़ा-सा आचार छोड़ दें तो क्या हानि है? ये सब मनु ने मृत्यु के कारण बताये हैं। राजा ने थोड़ा-सा प्रमाद खाने में किया तो अग्निहोत्र का काल चूका। अब मोह उत्पन्न हो गया कि, यह विलासिनी मेरी पत्नी बने! मन ने कहा—'वानप्रस्थ के लिये यहाँ आये, अब बाल सफेद होने पर विवाह की सोचते हो'! मन ने ही चक्कर चलाया—'इसमें क्या है? अभी मैं इतना वृद्ध तो नहीं हुआ। लड़का काम संभाल नहीं सकेगा, यह भी परमेश्वर की भक्त है।' राजा ने उससे कहा 'विलासिनी! मैं तुमसे विवाह करना चाहता हूँ'। वह बोली 'आप मेरा कहना मानते रहना तो मैं राजी हूँ'। विवाह कर लिया। उसे लगा मानो स्वर्ग में ही पहुँच गया। इस रहस्य को भूल गया कि **'यस्मिन् प्रतिष्ठिताः रथनाभाविवाराः'**। विलासिनी को *धर्म मार्ग से* तो प्राप्त किया नहीं था अतः शिव में कैसे प्रतिष्ठित होता!

अपने वैदिश नगर में पहुँचा। पुत्र शहर के किनारे स्वागत करने आया। पूछा, 'राज्य में व्यवस्था तो ठीक है?' बेटा बोला 'भगवान् के अनुग्रह से सब ठीक है। यह स्त्री कौन है?' मन्त्रियों ने समझा, राजकुमार के विवाह के लिये लाये हैं! राजा कहने लगे 'यह तेरी माँ है'। पुत्र ने नमस्कार किया और कहा 'आप मेरी माता लाये हैं तो ये माता ही हैं'। राजा ने कहा 'हमारे महलों में तुम्हारा महल ही सर्वश्रेष्ठ है, वहाँ इसको रखो, फिर नया महल निर्माण हो जायेगा'। विशिख उसे ले गया। वह तरुण था पर चित्त में विकार नहीं था। 'पिता ले आये हैं तो उसे प्रसन्न रखो'—यह उसने अपनी माँ को भी समझाया। संध्या भी प्रेम से रहने लगी। विलासिनी ने संध्या में द्वेष पैदा करने के प्रयत्न किये, अकारण दंड दिलाना, शिकायत करना आदि। पर संध्या के

मन में सापन्त्य भाव नहीं आया। उसने विशिख के मन में भी विकार लाने के अत्यन्त प्रयत्न किए, वह भी नहीं उत्पन्न हुआ। वह उसके विवाह के प्रस्ताव को रोक देती थी। राजा उसकी बात मानता ही था। वह कहती कि 'मैं तो उत्तम सम्बन्ध चाहती हूँ'। इस प्रकार अनेक वर्ष बीत गये। विलासिनी को निश्चय हो गया कि 'इसके चित्त में शिव भरा है, संध्या ने भी सारे पदार्थ शिव में ही प्रतिष्ठित कर दिये हैं इसीलिये मैं इनको राग-द्वेष में नहीं डाल पाती हूँ'।

उसने कलि-शनि से कहा 'मेरा साहस छूट रहा है'। उन्होंने कहा 'साहस रखो। हेमाद्रि को तो तुमने अटका ही रखा है, विशिख का विवाह होने दो'। विशिख ने अपना राज्य फैलाय, अनेक विद्याधरों को भी जीता। उसके लिये वरुण की कन्या का सम्बन्ध आया, विवाह हुआ। अनेक राज-कन्याओं से भी विवाह हुआ। विशिख शंकर की पूजा करते हुए रहता था। राजा वृद्ध थे। एक बार अनन्त चतुर्दशी को वे रुग्ण हो गये, विलासिनी ने ज़िद की 'आपको स्नान नहीं करने दूँगी, व्रत भी नहीं रखने दूँगी'। राजा ने कहा 'रोग साधारण है, मेरा व्रत मत छुड़ाओ'। उसने यह नहीं कहा कि भोग विलास मत करो वरन् कहा 'वृद्धों को व्रत नहीं रखना चाहिए'! आजकल भी ऐसा ही होता है। बोली 'पत्नी जो करती है वह पति का अर्धांग होने से पति का भी नियम पालित हो जाता है अतः मैं कर लूँगी'। राजा फिर फिसल गया। उसने त्रयोदशी का नियम पालन नहीं किया, व्रत तो भंग कर दिया। संध्या का जो पूजन का काल था विलासिनी ने उस काल में भोग प्रवृत्ति करा दी—**'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'**। गेंद सीढ़ी पर छूट गई तो नींचे तक लुढ़कती जाती है!

प्रातःकाल वह सोचने लगा 'व्रत के लिये मैं बीमार बना अन्य कार्यों के लिये नहीं। वृद्धावस्था में जैसा भोग-परायण हो गया, ऐसा तो युवा में नहीं था'! उसने प्रायश्चित्त के लिये वेदवेत्ता ब्राह्मण बुलाये कहा, 'आज की रात मैं सामवेद के पाठ में बिताता रहा पर आज यों पाप किया, आप लोग प्रायश्चित्त बतायें'। राजा के पुरोहितों ने समाधि से पता लगाया कि विलासिनी धर्म के व्रत को भंग करने वाली है अतः कहा कि 'इसका सर्वथा त्याग करो। [illegible] वेदों का [illegible] में एक साल तक [illegible] करना होगा। वेद ही परमात्म

में सर्वप्रथम अधिष्ठित है। जो इन वेदों की प्रतिष्ठा समझेगा वही त्रिरावर्तन से पापों को हटा सकेगा'। राजा के सामने यह बात आई—'वन में रह जाऊँगा, त्रिरावर्तन नहीं दस आवर्तन कर लूँगा लेकिन विलासिनी को नहीं छोड़ूँगा'। हम वास्तव में अधर्म के निमित्त को हटाये बिना अधर्म को हटाना चाहते हैं। जैसे धन की कामना से झूठ, ठगी है किन्तु उस कामना को छोड़े बिना हम दान अथवा स्नान से पाप हटाना चाहते हैं। विशिख ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की—'आपने मुझे राजा नियुक्त किया है। आज मैं पुत्र-धर्म का पालन न कर राज-धर्म का पालन करूँगा। प्रजा के लोग धर्म-विरुद्ध हो रहे हैं। इस विलासिनी ने मुझे कितनी बार मुग्ध करने का प्रयत्न किया। मैंने अपने को रोका। मैं राजा की हैसियत से आज्ञा देता हूँ कि इसे यहाँ से हटा दिया जाए'। विशिख जितना कोमल था उतना ही भीतर से कठोर निकला। हम मुँह में क्षमा हृदय में निष्ठुरता रखते हैं जबकि यदि भगवती की कृपा होगी तो अन्दर क्षमा-करुणा और बाहर निष्ठुरता होगी। नहीं तो पापी का पाप बढ़ता रहेगा, धर्म छूटने पर अनन्त कल्पों का पाप बढ़ता जायेगा। अत: धर्मत्याग प्राणत्याग की अपेक्षा बुरा है। विलासिनी हटी तो निमित्त हटने से नैमित्तिक भी हट गया। राजा प्रसन्न हुए। वानप्रस्थ ग्रहण कर, संध्या के साथ शिवभक्ति करते हुए शिव-धाम को प्राप्त हुए।

अनन्त चतुर्दशी के 'अनन्त' में रेशम के धागे में चौदह गाँठें होती हैं और अनन्त को हाथ पर धारण करते हैं। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के साथ शिव-शक्ति के सम्बन्ध का वह प्रतीक है। प्रार्थना की जाती है—

ललिते सुभगे देवि महेश त्रिपुरारि ओम्।
अनन्तं देहि सौभाग्यं मह्यं तुभ्यं नमो नमः' ॥

ओं से अखण्ड तत्त्व का स्मरण है जिसे सौभाग्य की इस परा काष्ठा से व्यक्त किया 'तुभ्यं मह्यं' अर्थात् आप-मैं एक ही हैं! जब इन्द्रियादि चौदहों परमात्मा में ओतप्रोत हो गये तब जीव शिव से भिन्न कुछ नहीं रह जाता।

विचार करो, राजा था हेमाद्रि। कुंडलिनी का निवासस्थान ही हेम नामक अद्रि या पर्वत है। तात्पर्य है कि साधक जब योगनिष्ठ होगा तभी बुद्धि संयम से शिव में स्थिर रहेगी। अनन्त चतुर्दशी को ... में

आँवले से स्नान करना बताता है, बाह्य-आन्तर शुद्धि को। आँवला शुद्धि का प्रतीक है। शरीर-मन में एवं अपने आस-पास शुद्धि को सुरक्षित रखना ज़रूरी है। 'शौच' को भगवान् ने 'ब्रह्मकर्म' में (१८.४२), शारीर तप में (१७.१४), भक्त के स्वभाव में (१२.१६), ज्ञानसाधनों में (१३.७), दैवी सम्पत् में (१६.३) गिना, यों अत्यन्त महत्त्व का बताया है। आहार में बिल्व का नियम है। बिल्व भगवान् का प्रिय फल है। वह बाहर से कड़ा किन्तु भीतर मुलायम, हितकर होती है। व्यवहारों में बाहरी कठोरता एवं हार्दिक प्रेम रखना हितकर है। साधक यदि बाहरी कोमलता रखे तो बहिर्मुखता बढ़ना सहज है, बाहरी कठोरता से बाह्य सम्पर्क न्यून रहता है। भीतर सबसे प्रेम रहे तो मन शान्त रहता है, साधनाभ्यास सम्भव हो जाता है। उस रात को सामगान करना-सुनना चाहिये। वृत्तिका विषयों की ओर जाना ही रात्री है। रात को भोगप्रवृत्ति प्रधान रहा करती है। साधक सावधान रहे कि भोगेच्छा होते ही साम गाये, या सुने। साम में परमेश्वर की स्तुतियाँ गायी जाती हैं। परमेश्वर का महत्त्व भूलने पर ही विषयों में आकर्षण प्रतीत होगा, परमात्मस्मरण विषयों को तुच्छ प्रतीत कराता रहता है तो वृत्ति भोगरत नहीं होती।

राजा की पहली पत्नी 'संध्या' थी। जाग्रत् और सुषुप्ति की संधि जैसी, अंतरालावस्था जैसी होने से समाधि संध्या है। वृत्ति निरुद्ध रहना सुषुप्ति जैसा किन्तु सावधानी जाग्रत् जैसी—यों दोनों अवस्थाओं का मानो मेल समाधि में होता है। समीचीनतम ध्यान होने से भी वह संध्या है। उसके प्रभाव से अनात्म जगत् स्वप्नवत् मिथ्या प्रतीत होता है। यदि चित्त ने समाधि में आत्मा का यथार्थस्वरूप देखा नहीं है तो अपना कर्त्ता-भोक्ता स्वरूप सत्य लगता ही रहेगा, उसे मिथ्या समझना सम्भव नहीं होगा। इसी 'संध्या' से विशिख पुत्र प्राप्त होता है। शिखा से विरहित होने के निमित्त से संन्यास ही विशिख है। शम-दम के बाद ही उपरति अर्थात् संन्यास का स्थान है। संन्यास में जगत् का अर्थात् अनात्मा में सत्यत्व-बुद्धिपूर्वक उससे रागादि द्वारा सम्बन्ध का त्याग ही प्रधान है। योगी साधक ही समाधि का अभ्यासी हो तो संन्यास की सफलता है। किन्तु योगाभ्यास में शनैः शनैः मन्दता आ जाती है। अतः हेमाद्रि को 'मन्दराचल' जाने की सूझी। समाधि का सुख

इतना सूक्ष्म मिल जाता है कि उससे परे जो पूर्ण आनन्द, उसके लिये छटपटाहट न होने से साधक परमपुरुषार्थ के प्रयास में मन्दता शिथिलता ला देता है। वही दशा है जब विलासिनी को मौका मिला। प्रारब्ध भोग देगा ही, पुण्यशील ही उत्तम साधक होने से उसे उत्तम भोग मिल जाते हैं। विवेक से वह उन्हें शिवार्पण भी करता रहता है जैसे विलासिनी भी शिवाराधना करती थी। लेकिन विषयस्वभाव ही ऐसा है कि भोक्ता की सावधानी चूक जाती है। सावधानी ही योगी की विशेषता है—

**'विषयेन्द्रियसंयोगः सामान्यं सर्वदेहिनाम्।**
**योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता'॥**

अपने अकर्त्ता-अभोक्ता स्वरूपपर निश्चय कायम रखते हुए विषय एकमात्र शिवार्थ हैं, मेरे लिये इनका किंचित् भी प्रयोजन नहीं—इसके प्रति सावधानी हटते ही साधक भोग में संलग्न हो जाता है। श्रेष्ठ विषय इसी तरह बंधक बनते हैं। साधारण विषयों का उपयोग करने पर भी उनमें आकर्षण नहीं होता लेकिन श्रेष्ठ विषयों का उपयोग करने से उनकी विशेषतावश उनसे राग होना सहज है। कलि-शनि ने अत एव अतिसुन्दर विलासिनी रची थी। जैसे शिवार्थ नाचती विलासिनी को प्रमादवश राजा खुद देखने लगा वैसे साधक भोग को स्वयं के लिये समझकर उससे सुख लेने लगता है तो बँध जाता है। प्रारब्धवश ईश्वर ने जो वस्तु दी उसका अनिवार्य उपयोग कर शिवसेवा में तत्पर रहना है—यही ध्येय रहे तो बँधता नहीं किन्तु 'कितना अच्छा भोग मिला' यह दृष्टि बनते ही वह बाँधने लगता है। जैसे व्रती राजा ने 'विलासिनी दे रही है अतः मना न करूँ, खा लूँ' सोचकर अन्न खा लिया ऐसे 'शिव ही सुख का एकमात्र प्रदाता सम्भव है' यह भूलकर 'विषय सुख देता है' समझने से साधक उसे 'अन्न' बना देता है अर्थात् वह भोग ही साधक को खा जाता है, **'अत्ति भूतानि'** प्राणियों को खाने से अन्न कहलाता है ऐसा श्रुति में बताया है। जब विषयों में सुखबुद्धि हुई तब धीरे-धीरे यह तथ्य भुला दिया जायेगा कि सभी वस्तुएँ व्यापक शिव में अधिष्ठित हैं, शिव की पूर्णता से दृष्टि चूक जायेगी। फलतः जैसे राजा के चित्त से परमेश्वर हटकर विलासिनी प्रतिष्ठित हो गयी ऐसे साधक व्यवहार-प्रधान, बहिर्मुख हो जाता है। तभी से दुःख प्रारम्भ होते हैं।

जैसे राजा बीमार हुआ। उस स्थिति में भी उसे सावधान उसके स्वयं के विवेक ने ही किया। प्रातः उसे स्वयं पश्चात्ताप हुआ था। साधना के लिये प्रधान अवलम्बन विवेक का ही है, उसे दृढतम रखे बगैर कल्याण मार्ग की यात्रा सम्भव नहीं है। पुरोहित अर्थात् आगे हित कैसे हो—यह समझाने वाले। उन्होंने बताया कि भोग-पदार्थों से दूर होकर वेद की त्रिरावृत्ति करो। त्यागवृत्ति प्रधान रखते हुए अर्थात् शमादि अभ्यासपूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासन—ये तीन ही त्रिरावृत्ति हैं। जिसका श्रवण, उसी पर मनन, उसी पर समाधि—यों एक को ही तीन तरह मानो दुहरा देने से कल्याण होता है। जैसे राजा के मन में आया कि 'तीन के बजाये दस भी कर लूँ पर विलासिनी न छोड़ूँ' वैसे साधक तब भी त्याग से बचने लगे तो संन्यास रूप विशिख ही कठोरता से त्याग कराता है। इसीलिये विविदिषा संन्यास का महत्त्व है। गृहस्थादि को त्याग अनिवार्य नहीं, ऐच्छिक है जबकि संन्यासी न चाहे तो भी उसे त्याग करना ही होगा। समाज, धर्म एवं स्वयं उसका मन धिक्कारेगा यदि वह त्याग न कर पाया तो। यद्यपि योग्यतम साधक कहीं भी त्यागी रह सकता है तथापि संन्यासी का त्यागी रहना अधिक मुमकिन होने से शास्त्र ने विविदिषु के लिये भी संन्यास का विधान माना है। विशिख कठोर न बनता तो हेमाद्रि पुनः फिसल जाता। यों जब श्रवणादि में संलग्न होगा तभी चित्त में शिव प्रतिष्ठित होकर कल्याण होता है। ज्ञान की दृढता के बिना अध्यात्मलाभ, दुःखहानि एवं आनन्दस्फुरण सम्भव नहीं। जैसे हेमाद्रि का प्रायश्चित्त समाप्त होते ही वह पूर्ण प्रसन्न, विलासिनी के चंगुल से स्वतन्त्र हो गया, वैसे ज्ञाननिष्ठा होते ही संसार का बन्धन सर्वथा खुल जाता है। प्रायश्चित्त अपराध के प्रतिकार के लिये होता है, स्वाभाविक क्रम में विहित नहीं; इसी तरह आत्मा में अज्ञानरूप अपराध के निमित्त से ही साधनापूर्वक ज्ञाननिष्ठा का विधान है, परमार्थभूमि पर इसका अस्तित्व नहीं। आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता समझनारूप 'आत्मापहरण' को स्मृतिकारों ने सब पापों का मूल कहा ही है अतः अज्ञान से हुआ अहंकार ही वह पाप है जिसे धोने के लिये साधनारूप प्रायश्चित्त कर्त्तव्य है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि रथ-चक्के की नाभि में अरों जैसे बाहरी-भीतरी प्रपंच को शिव में ही प्रतिष्ठित जानना जीव के चरमोत्कर्ष का एकमात्र हेतु है।

## प्रवचन अष्टादश (२५.०९.१९६९)

शुक्ल यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के मन्त्रों का रुद्राष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में संग्रह है। रुद्रिय-प्रथमाध्याय का अन्तिम मन्त्र है—

**सुषारथिरश्वान् इव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।**
**हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥**

[*अच्छा सारथि जैसे घोड़ों को संचालित करता है या डोरियों से जैसे पक्षियों को बहेलिया संचालित करता है ऐसे मनुष्यों का संचालन करने वाला हृदयस्थ जराहीन शीघ्रकारी परमेश्वर मेरा मन शिवसंकल्प बनावे।*]

ऋग्वेद के खिलकाण्ड में भी 'शिवसंकल्पमस्तु' घटित कुछ मन्त्र आते हैं पर यजुर्वेद में आये छह मन्त्रों का ही रुद्रिय में संग्रह है। आर्य समाजी आदि कुछ लोग सोचते हैं कि ये छह ही पहले थे, बाद में कुछ लोगों ने बढ़ा दिये! वही लोग यजुर्वेद के पहले ऋग्वेद मानते हैं। ऋग्वेद में ये छहों हैं, तदतिरिक्त भी बीस मन्त्र अधिक हैं। ऋग्वेद के ही कुछ मन्त्रों पर साम गान है। युजर्वेद में भी ऋग्वेद के अनेक मन्त्र आये हैं, इससे ऐसा मानना अप्रामाणिक है कि ये ऋग्वेद में बढ़ा दिये गये! कार्य-विशेष के लिये ऋग्वेद से ही सर्वत्र संग्रह किये गये स्वीकारना संगत है। यथा आजकल ग्रन्थों के आधार पर प्रश्नोत्तरी बनती है : ऐसा नहीं कि प्रश्नोत्तरी को बढ़ाकर ग्रन्थ बनते हों वरन् ग्रन्थों के अनुसार ही प्रश्नोत्तरी यथावश्यक प्रश्न और विद्यार्थी के लिये उपयोगी उत्तर चुनकर बनायी जाती है। चयन पूर्ण ग्रन्थों से होता है। मूल प्रश्नोत्तरी नहीं। अथवा साल भर के खातों में से बैलेन्स शीट बनाते हो। पहले बैलेंसशीट नहीं बनी कि उसका विस्तार करके खाता लिख दिया गया! उसी प्रकार पूड़ी में से आटा, घी, पानी नहीं बनते, उन्हीं से पूड़ी बनती है या घी में छाछ मिलाकर दही नहीं बनता, दही मथने से ही वे बनते हैं। तात्पर्य है कि छह ही मूल हैं, बाकी जोड़ दिये गये हैं ऐसा नहीं मान सकते क्योंकि कोई प्रमाण नहीं। तथापि रुद्रिय में और माध्यन्दिन शाखा में इन छह मन्त्रों का ही संग्रह है। इससे समझा जा सकता है कि ये आधारशिला हैं।

पूर्ण स्थिति फलस्वरूपिणी है। आत्मज्ञान का तरीका, स्वरूप का विश्तार, आत्मा को अभिन्ननिमित्तोपादन तथा अधिष्ठान बता कर अब पूर्ण रूप में उसी की स्थिति बता रहे हैं। सुसारथि घोड़े सही तरह से ले जाता है। जहाँ विषय बताने की सामर्थ्य हो वहाँ पहले विषय फिर उदाहरण देते हैं पर जहाँ विषय कठिन है, जिसको पहले से जानते नहीं, वहाँ पहले उदाहरण देना पड़ता है। जहाँ पहले से अनुभव हो ही नहीं जैसे मोटर गाड़ी ग्रामीण ने पहले कभी देखी ही नहीं, तुम कहो 'मेरे पास 'इम्पाला है' तो कहना व्यर्थ है। पहले उसे दृष्टान्त से समझा देना पड़ेगा कि मोटर गाड़ी क्या होती है। 'जैसे अपने गाँव में बैलगाड़ी है, वैसी बिना बैल के चलने वाली गाड़ी होती है' यों दृष्टान्त से बताकर फिर गाड़ियों के भेद समझा सकते हो। दृष्टान्त-दार्ष्टांत में कुछ समानता, कुछ विषमता होगी। बैलगाड़ी की तरह होने पर भी मोटरगाड़ी बिना बैलों की होगी। एक को चेतनपशु, बैल चलाते हैं, दूसरे को जड यन्त्र चलाता है। असमानता होगी फिर भी कुछ समानता को लेकर दृष्टान्त से ज्ञान कराना पड़ेगा क्योंकि बैलगाड़ी ऐसी चीज़ है जिसे उसने देखा है। जिसने कोई बैलगाड़ी भी न देखी हो वह मोटरगाड़ी चलती देखकर पूछेगा 'यह कौन-सा जानवर जा रहा है?' उससे कहना पड़ेगा 'जैसे हम लकड़ी पर वज़न देकर खिसकते चलते हैं, उसी प्रकार इस पर बैठा आदमी इसे अपने नीचे रख कर चला रहा है।'

पदार्थों को मनुष्य जानता है। परमात्मा आज तक के किसी अनुभव के साथ साम्य रखता नहीं—**'न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'** उसकी बराबरी का भी कोई नहीं, न कोई उससे बड़ा है। शुद्ध चेतन दार्ष्टान्त ही रहता है, उसमें अत्यनुकूल दृष्टान्त नहीं है। उसके जैसी कोई चीज़ ही नहीं तो दृष्टान्त किसे बनाओगे! ब्रह्म के लिये अन्वयी दृष्टान्त मिलेगा नहीं, केवल व्यतिरेकी दृष्टान्त बताना पड़ेगा कि वह क्या या कैसा नहीं है। अन्वयी उदाहरण के अभाव में उसका उपदेश कैसे दें? अत: श्रुति ने अधिष्ठान के अन्दर स्थित आत्मज्ञानी का दृष्टान्त दिया। जहाँ-जहाँ कर्म वहाँ-वहाँ कामना, अकाम की कदाचित् क्रिया देखी नहीं जाती। यह अनुभवसिद्ध है। श्रुति कहेगी परमेश्वर में क्रिया है पर कामना नहीं। यहाँ कहा **'यद् मनुष्यान् सुषारथिः अश्वान् इव नेनीयते'** घोड़ों को जैसे सुसारथि ले जाता है वैसे वह मनुष्यों को ले जाता

है। दूसरा दृष्टान्त **'वाजिनः अभीषुभिः इव'** वाजी शब्द घोड़े से अतिरिक्त बाण और पक्षी अर्थ में भी प्रसिद्ध है, 'वाजी बाणाश्वपक्षिषु' ऐसा मेदिनी कोष है। पक्षी को डोरी से बाँधते हैं। लखनऊ में कबूतर या बाज के पैर में धागा बाँध कर दूसरा सिरा अंगुली में बाँध लेते हैं। पक्षी उड़ता है पर डोरी खींचने से वापिस भी आ जाता है। इसी प्रकार बाज पर डोरी का नियन्त्रण रहता है। 'वाजिन:' पक्षियों को 'इव' जैसे 'अभीषुभि:' डोरियों से नियन्त्रित रखते हैं ऐसे परमात्मा मनुष्यों को रखता है। इस प्रकार घोड़ा और बाज आदि पक्षी—ये दो दृष्टान्त हैं।

**'हृत्प्रतिष्ठम् यदजिरम्'** वह हृदय में प्रतिष्ठित है तथा कभी भी वृद्ध नहीं होता। सामान्यत: वृद्ध व्यक्ति को हटाने के लिये जवान लड़के आन्दोलन करते हैं। परमात्मा तो अजिर है अर्थात् बूढ़ा नहीं है। प्रश्न होगा कि उसके विरोध के लिये क्या करें? तब उसे 'जविष्ठम्' कहा अर्थात् बड़ा वेगवान् है! यदि सब मिल कर चेष्टा करें कि उसे हटाकर हम शासक बन जायें, तो कभी बन नहीं सकते।

यहाँ सुसारथि का दृष्टान्त दिया है जिसका अर्थ है अच्छी प्रकार रथ को चलाने वाला। रथ पर चलने वाला, रथ का मालिक, रथ के मुख्य कार्य युद्ध को करने में समर्थ हो तब रथी कहलायेगा। इनमें से एक भी कम होगा तो 'रथी' नहीं माना जायेगा। रथी के तीनों लक्षण हैं पर रथ में बैठकर युद्ध करने की सामर्थ्य रथी में आवश्यक है, केवल ज्ञान वाला होने से वह रथी नहीं। महाभारत में आता है : भीष्म सेनाध्यक्ष नियुक्त हुए। उन्होंने महारथी, अतिरथी आदि गिना कर बोले, उसी में कहा 'इस कर्ण को भी अर्धरथी मान लो'। दुर्योधन कर्ण को महारथी मानता था। प्रश्न उठा कि कर्ण से क्या द्वेष है? कर्ण बोला 'मैं तो महारथी हूँ'। भीष्म कहने लगे 'तू सभा में गप्प मारने में महारथी है! दिव्यास्त्र के अनुसंधान जहाँ करने होंगे, उस युद्धभूमि की बात चल रही है'। कर्ण बोला 'दिव्यास्त्रों का मुझे ज्ञान है, मुझसे मन्त्र पूछ लो'। भीष्म जानते थे कि उसने ब्राह्मण वेष में छिपकर शस्त्रविद्या सीखी है। बोले 'तुम्हारे गुरु परशुराम मेरे भी गुरु हैं। मैं तुम्हारा गुरुभाई हूँ। मैंने गुरु जी को भी हराया था'। देवताओं के कहने पर परशुराम ने वसु के अवतार और गंगापुत्र होने से क्षत्रिय भी भीष्म को तो सिखा दिया था पर अन्य क्षत्रियों

को नहीं सिखाते थे। कर्ण ने स्वयं को ब्राह्मण बता कर परशुराम से शिक्षा ली थी। एक दिन कर्ण की गोद में गुरु सिर रख कर लेटे थे। एक भौंरे ने कर्ण की जंघा काटी। इसने अपना पैर नहीं हिलने दिया। खून बहा, परशुराम की पीठ में गरम-गरम लगा। देखा तो खून बह रहा था। कर्ण ने कहा, 'कुछ खास नहीं हुआ गुरु जी, मुझे भौंरे ने काटा है'। परशुराम बोले 'तू ब्राह्मण नहीं है! जो क्षत्रिय नहीं हो उसमें इतनी हिम्मत नहीं हो सकती। सच बोल! जानता नहीं कि मैं परशुराम हूँ?' कर्ण ने कहा 'मैं सूतपुत्र हूँ, सारथी हूँ'। गुरु ने कहा 'यह भी बात नहीं जँचती'। तब बताया 'मुझे मेरे पिता ने नदी में बहते पाया था'। उन्होंने कहा 'यह निश्चित है कि तू क्षत्रिय है। जब तक सारथि की तरह बातें करेगा तो मेरी पढ़ाई विद्या काम आयेगी, जब क्षत्रिय की तरह युद्ध करने लगेगा तो मेरी विद्या काम नहीं आयेगी'! भीष्म ने कहा, 'यह बात मुझे परशुराम ने स्वयं बताई, बोल सच है कि झूठ?' कर्ण की नज़र नीची हो गयी। उन्होंने कहा 'मैं तुझे अर्धरथी भी नहीं गिन रहा था पर तुझ पर दुर्योधन का स्नेह देखकर गिन लिया'। कर्ण बोला 'जब तक भीष्म सेनाध्यक्ष हैं मैं लड़ूँगा नहीं'। वे बोले 'अच्छा हुआ, तू युद्ध नहीं कर रहा है'। प्रारम्भिक दस दिनों तक कर्ण ने युद्ध नहीं किया। कर्ण जैसा व्यक्ति, जिसे शास्त्र-ज्ञान था पर सामर्थ्य नहीं थी, मौके पर काम नहीं ले सकता था, वह मारा भी इसीलिये गया। भगवान् जानते थे कि इसके पास एक ही अमोघ शक्ति है। वह जब ही घटोत्कच पर छूट गई तब भगवान् प्रसन्न थे कि 'अपने सब बच गये'। इस प्रकार रथ पर चढ़ा, मालिक युद्ध करने में सामर्थ्यवान् रथी है।

उपनिषत् में इस शरीर को रथ कहा है—**'शरीरं रथमेव तु'**। जब तक हम शरीर में हैं तब तक रथी हैं। सब साधना शरीर में होती है। वैदिक कभी भी शरीरत्याग की आशा नहीं करता। 'हम मर जाते,भगवान् हमें उठा लें' सोचने वाला वैदिक नहीं। **'पश्येम शरदः शतम्'** से प्रारम्भ कर अन्त में **'भूयश्च शरदः शतात्'** से प्रार्थना करते हैं कि सौ से ऊपर जितने साल मिलें उतना ठीक है! सेर भर दूध खरीदो तो चार पाव तक ग्राहक नज़र गड़ा कर रखता है, चार पाव के ऊपर वह जितना भी डाले, दूधवाले की मर्जी। इसी तरह सौ वर्ष तो हमें लेने ही हैं, आगे परमात्मा जितना बढ़ा दे। शरीर न

हो तो साधना, जीवन्मुक्ति आदि कुछ सम्भव नहीं। परब्रह्म परमात्मा भी कोई कार्य करना चाहे तो शरीर में आता है—

**'मत्स्यः कूर्मो वराहो नरहरिणपतिर्वामनो जामदग्न्यः ।**
**काकुत्स्थः कंसघाती मनसिजविजयी यश्च कल्की भविष्यन्' ॥**

भगवान् क्या-क्या बने—मछली, कछुआ, सुअर, शेर, आदमी, बौने, ब्राह्मण का भी रूप लिया। राम, कृष्ण, बुद्ध—सभी बने, आगे कल्की भी बनेंगे। शरीर से दृष्टि हटी कि सुषुप्ति में कोई कार्य सम्भव नहीं। रथी शरीर का मालिक बन कर रहता है, मालिक कैसे बनें—इस पर आगे विचार करेंगे।



## प्रवचन एकोनविंश (२६.०९.१९६९)

शिवसङ्कल्पसूक्त के अन्तिम मन्त्र पर विचार चल रहा है। आत्मज्ञान की पूर्णता में स्थित विद्वान् की प्रवृत्ति से परमेश्वर के बारे में समझा जा सकता है। सत्सारथि की तरह परमात्मा मनुष्यरूप घोड़ों को सही रास्ते ले जाता है। रथी योग्य हो तब योग्य सारथि मिले! रथी की सामर्थ्य पर चर्चा हो चुकी। शरीर को वेद ने रथस्थानीय बताया। हम शरीर रूपी रथ पर स्थित तो हैं किन्तु शरीर के मालिक नहीं हैं। हमारा स्थूल शरीर पर भी स्वामित्व नहीं—एक घंटा एक आसन पर बैठने से घुटना मना करता है! व्रत में पेट कहता है कि सुख से नहीं रहने दूँगा। पहाड़ पर साँस फूलने लगती है। रथ में बैठे हैं पर उसके मालिक होकर नहीं। बैठने, चलने मात्र से मालिक नहीं हो जाते। अपनी मिल्कियत को घटाने वाला सूत्र 'स्वभाव' है। शरीर का यही स्वभाव है, इस पर हमारी मिल्कियत न स्थापित हुई तो भी हमारा क्या बिगड़ेगा? यह सोच हमें इसका मालिक नहीं बनने देती। जब स्थूल शरीर पर मिल्कियत नहीं तब सूक्ष्म पर अधिकार कहाँ से आयेगा? मन को स्थिर कैसे करोगे? इन्द्रियाँ भी हमारे अधीन नहीं हैं। कान, आँख नहीं चाहने पर सुनते हैं, देखते हैं। ज्ञानेन्द्रियों की तरह कर्मेन्द्रियों पर अधिकार नहीं—हाथ चल जाता है। कहते हैं 'जीभ फिसल गयी, भाव बुरा नहीं था'। इच्छापूर्वक प्रवृत्ति होती है या नहीं—यह अभी विचार नहीं कर रहे हैं, इतना ही कह रहे हैं कि

परतन्त्रता का बोध हर स्तर पर है। मन वश में नहीं, बातें याद नहीं रहतीं, बुद्धि में परतन्त्रता है अतः संस्कार हावी होते हैं। 'मैं देहातीत हूँ' चिन्तन कर रहे हैं, मच्छर ने काटा तो झट बन गये शरीर; अहं को पकड़ कर अनात्मा में डाल दिया! कहते हैं 'स्वामी जी ऋषीकेश में यदि मच्छर नहीं होते तो निर्विकल्प समाधि हो जाती'। शरीर के भी हम मालिक नहीं तो कारण के, अविद्या के अधिपति बनेंगे कैसे? तत्त्वज्ञानी ने परमात्मा को सारथि का अधिकार दे दिया। हम रथ के मालिक ही नहीं इसलिये रथी नहीं, इसमें चढ़ कर हम युद्ध नहीं कर पाते हैं; और रथी न होने से परमेश्वर को सारथि नहीं नियुक्त कर पाते। पाकिस्तान को अमरीका ने पैटन टैंक दिये, एक-एक अट्ठारह टन का था। चद्दरें इतनी मोटी कि उनमें छेद नहीं हो सकते। फिर भी वे हार गये! क्यों? उसमें बैठकर अस्त्र कैसे चलाया जाये—यह पता नहीं था। काम, क्रोध, लोभ, मोह को विजय करने के लिये मनुष्य देहरूप बड़ा रथ भगवान् ने हमें दिया है। **'दुर्लभो मानुषो देहः'**। जैसे पैटन टैंक खेतों में घुस गया तो वह अपने वजन से ही दब गया, अस्त्र चलाने वाले यन्त्र को भली प्रकार समझ नहीं पाये, जैसे ही खोल के बाहर देखते थे वैसे ही मारे जाते थे, ऐसे ही हम भी ब्रह्म प्राप्त करने के साधन को पाप के गड्ढे में गिराते हैं। विवेक, विचार, भक्ति, ज्ञान के अस्त्र नहीं चलाते, वे हमारे लिये बोझ बन जाते हैं। हमें कर्ण की तरह अस्त्रों के नाम याद हैं किन्तु चलाने की सामर्थ्य नहीं है। परमात्मा वह जिसका सर्वत्र अलंघ्य शासन है। ऋग्वेद (२.१२.७) कहता है—

**'यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो**
**यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।**
**यः सूर्यं य उषसं जजान**
**यो अपां नेता स जनास इन्द्रः' ॥**

संसार की सब चीज़ें उसी की बनायी हुई और उसी का सब पर पूरा प्रशासन है। दिशा-प्रदिशा सर्वत्र प्राणिमात्र पर और सूर्यादि पर उसी का नियंत्रण है। 'गावः' संसार भर की इन्द्रियाँ उसकी हैं। सारे ग्राम उसी के हैं। 'ग्रा' अर्थात् ग्रास करके, निगलकर 'म' अर्थात् पुनः बाहर निकालने वाली

ग्राम है। रात में गाँव सब वासियों को निगलकर सुबह खेत आदि की ओर जाने के लिये उगल देता है अतः ग्राम है। संस्कार रूप से निगल कर स्मृति आदि रूप से निकालने वाला चित्त भी ग्राम है। अतः वास्तव में वही रथी है, रथ में भी है, भयंकर युद्ध करना भी जानता है।

प्रश्न उठता है कि यहाँ उसे रथी क्यों नहीं कहा, सुसारथि क्यों कहा? सारथि रथी के साथ तो होता है पर रथी से अधिक सामर्थ्य वाला भी होता है। रथी के साथ है पर कम से कम रथी के समान युद्ध करने की सामर्थ्य वाला होना चाहिये। अर्जुन रथी था तब कृष्ण सारथि थे। गऊओं को हरण करना शर्म की बात है। कुसंग के प्रभाव से **'भीष्मो गोहरणे गतः'**। परशुराम को हराने वाले, अष्ट वसुओं में से एक भीष्म महाभारत के युद्ध से पहले १४८ वर्ष की उम्र में दुर्योधन के कहने से गायें चुराने पहुँच गये थे! विराट् नगर की यह घटना प्रसिद्ध ही है। नतीजा क्या हुआ? उनके कपड़े चुरा लिये गये! भीष्म, कर्ण, सारे महारथी बने रहे, अर्जुन उत्तरा का सारथि बन कर ही तो गया था। इसी प्रकार महाभारत में कर्ण ने यह शर्त रखी थी कि 'मद्रराज शल्य मेरे सारथि बनें'। शल्य पहले माने नहीं। माने तो एक शर्त पर—'मर्जी आवे सो बोलूँगा'। कर्ण इस रहस्य को नहीं समझा तो उसने जल्दी ही मार खाई। वह मात्र एक ही दिन सेनाध्यक्ष रह सका। इसलिये श्रुति ने भगवान् को सारथि कहा।

दूसरा कारण है, परमात्मा की इच्छा प्रबल है। सारे महाभारत युद्ध में अर्जुन को आगे बढ़ाने वाले थे श्रीकृष्ण। युद्ध स्वयं करते तो कृष्ण जीतते। वे चाहते थे कि अर्जुन का नाम बढ़े, वह जीते। जिसने अकेले ही कंस, शिशुपाल को मारा, वह यदि इस युद्ध को भी जीते तो अधिक बड़ाई नहीं होती। टाटा यदि पनवारी की दुकान करे तो यश नहीं लेकिन पनवारी को शिक्षा देकर उसे अधिक रूपया कमवा दे तो पनवारी का नाम होगा। इसी प्रकार अर्जुन के जीतने से **'पार्थ एव धनुर्धरः'** कीर्ति होगी, भगवान् जीते तो क्या आश्चर्य! परमात्मा यदि सारे काम क्रोध को नष्ट कर दें तो महत्त्व नहीं क्योंकि वे पहले ही सब नष्ट किये बैठे हैं। अतः रथी जीव को साथ रखते हैं। नित्य मुक्त शिव जीतें तो बड़ाई नहीं, वे सारथि बन कर जीवन्मुक्त को जिताते हैं अतः वे सुसारथि हैं। साधारण मनुष्य अन्य को जिताने से डरता

है कि कहीं मेरे ऊपर हावी न हो जाए। जीव साधना करता है तो वह परमात्मा का समर्थक नहीं, विरोधी होता है। **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते'** सचमुच दोनों मित्र हैं। ईश्वर तो जीव को अपना मित्र मानता है जबकि जीव उसे मित्र नहीं मानता। वह तो रिजर्व बैंक के कागज़ के टुकड़ों और शरीर के अत्यन्त घृणित स्थान से उत्पन्न पुत्र पर मोहित है! उसकी दृष्टि में ईश्वर रक्षण करेगा नहीं, धन तथा पुत्र रक्षण करेंगे। **'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति'** वह तो विषयों में लगा है। ईश्वर **'अभिचाकशीति'** प्रेम से यह सब देख रहा है। अपने सबसे बड़े दुश्मन के साथ बैठना ऐसी बहादुरी है जो युद्ध करने से भी बड़ी है।

ईश्वर की यह असीम कृपा वेद में बतायी—

**'युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति।**
**को विश्वाहा द्विषतः पक्ष आसत उतासीनेषु सूरिषु'** ॥

(ऋ. ६.४७.१९)

संसार-निर्माता होने से त्वष्टा कहलाने वाला परमेश्वर ही 'इह' संसार में 'राजति' एकमात्र दीप्तिमान् है। उसने 'हरिता' हरे रंग के घोड़े रथ में जोते हैं। इससे पूर्व के मन्त्र में **'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश'** कहकर इन्द्रियरूप घोड़ों का उल्लेख है जिन्हें यहाँ हरा कहा। पीला और काला रंग मिलने से हरा दीखता है अतः परमात्मा की स्वर्णिम द्युति और जीवकी कालिख, दोनों का सम्मिलित रंग हमारी इन्द्रियों में दीखता है, उनकी प्रवृत्तियों से अभिलक्षित होता है। परमात्मा ही अतिकृपा कर 'द्विषतः पक्ष' अपने द्वेषी जीव के पक्ष में, उसके हृदय की गुफा में आकर मौज़ूद है। 'सूरिषु' गुणातीत स्थितप्रज्ञ जो विद्वान् 'आसीनेषु' बैठे हैं उनमें वह परमेश्वर है इसमें तो 'उत' कहना ही क्या! दुश्मन का भी साथ निभाने वाला भक्त का साथ निभायेगा इसमें क्या सन्देह। इतना अन्तर है कि दुश्मन को बतायेगा पर वह प्रायः ईश्वरनिर्देश की उपेक्षा करेगा जबकि सूरि केवल उसी के निर्देश का पालन करेंगे।

सारथि को नियम से बुद्धिमान् होना चाहिए। रथी को सारी बातें समझायेगा पर रथी की ही आज्ञा मानेगा। ड्राइवर तीन बार कहेगा 'रास्ता

वनवे है, उधर से न चलें', किन्तु यदि मालिक ने कहा 'ले चल' तब वह ले ही चलेगा।इसी प्रकार परमेश्वर रथी को सुझायेगा 'इस रास्ते गये तो कष्ट उठायेगा', किन्तु यदि ग़लत निर्णय तुमने किया तो ईश्वर ग़लत काम के लिये भी चैतन्य प्रकाश देगा! अत्यन्त कष्ट पाकर कहोगे 'अब सारथि! तू ही चला। मैं अत्यन्त दुःख उठा रहा हूँ। आप मेरे ही रथ को चलाओ, इधर-उधर न जाओ।' आचार्य शंकर कहते हैं—

**'कल्याणिनं सरसचित्रगतिं सवेगं**
**सर्वेंगितज्ञम् अनघं ध्रुवलक्षणाढ्यम्।**
**चेतस्तुरंगम् अधिरुह्य चर स्मरारे!**
**नेतः समस्तजगतां वृषभाधिरूढ!' ॥**

(शिवानं. ७५)

भगवान् शंकर से कहते हैं—आप साँड पर बैठते हैं वह तो धीरे-धीरे चलता है, बुड्ढा भी है। न जाने किस ब्रह्माण्ड में, कब आपको जाना पड़े! अतः तरीका बदलें। प्रश्न उठता है कि नयी सवारी कौन दे? उत्तर आचार्य ने दिया—मेरे चित्तरूप तुरंग (घोड़े) पर चढ़ें। **'कल्याणिनम्'** यह कल्याणभाव से भरा है, कुसंस्कारों से रहित, शिक्षित है। ऐसे घोड़े से ही 'सुसारथि' निर्विघ्न कार्य कर भी सकता है अन्यथा उसका श्रम घोड़ों को सिखाने में ही व्यय हो जायेगा! किंच घोड़े 'सरस' प्रसन्नता से 'चित्रगतिं' तीव्र नाना चालों से चलते हैं। प्रेम होने पर ही आनन्द, प्रसन्नता सम्भव है। क्योंकि मेरा चेतस्तुरंग, मनोरूप अश्व आपके प्रति 'सरस' सप्रेम है इसलिये आप भी इस पर सवारी करके प्रसन्न ही होंगे, परेशान नहीं। आपकी प्रसन्नता से चित्त का भी रस बढ़ता जायेगा। विभिन्न तरह की ज़मीनों पर और अलग-अलग मौकों पर घोड़े को अलग चालों से चलना पड़ता है, वे सारी योग्य चालें इस चित्त-घोड़े को आती हैं और 'सरस' होने से सवार की सुविधा का भी ख्याल रखता है। पहाड़ी टट्टू इसकी चिन्ता नहीं करता कि सवार के घुटने चट्टान से ठोकर खायेंगे लेकिन शिक्षित अश्व सवार की सुरक्षा-सुविधा को प्राथमिकता देता है। घोड़े की विशेषता 'सवेगं' तीव्र गति वाला होना भी मन में है ही। कल्याण-चिन्तन, भगवत्प्रेम और परिस्थिति के अनुकूल विवेकपूर्ण

प्रवृत्ति की सामर्थ्य का शीघ्र प्रयोग करना मन को सिखाये तभी भक्त शिव से उस पर सवारी करने की प्रार्थना करे यह उचित है। **'सर्वेंगितज्ञम्'** यह सारे इशारे, निर्देश समझता-मानता है। परमेश्वर कहें तब हम मानें—यह भी अच्छा है पर श्रेष्ठ है कि उनका इशारा ही काफी हो। प्रेमसम्पन्न विवेकी पत्नी जैसे पति की आवश्यकताएँ हल्के-से-हल्के इशारे में समझकर उन्हें पूरा करती है वैसे भक्त को अपना चित्त तैयार करना पड़ेगा। तभी 'अनघं' मन निष्पाप होगा। पाप ही मन को ईश्वर, विरोधी, आज्ञोल्लंघन करने वाला बनाता है। जितना पाप-संस्कार ज़्यादा होगा उतना परमेश्वर और धर्म में ज़्यादा अरुचि होगी। शनैः शनैः पाप से दूर रहते-रहते जब संस्कार सुधरते हैं तभी अनघ मन भगवान् की सवारी बनने के लायक होता है। वृषभ धर्म का रूप होने से ही भगवान् की पसन्द सवारी है अतः घोड़ा भी समकक्ष बनाया जाये तभी वे उसे अपनायेंगे। ये लक्षण भी इसमें 'ध्रुव' स्थायी हैं। तत्काल डाले संस्कार कुछ ही काल तक प्रभावी रहकर पुनः सहज प्रवृत्ति से अभिभूत हो जाते हैं। किन्तु सद्भाव-पूर्वक दीर्घकाल तक निरन्तर किया अभ्यास स्थायी संस्कार छोड़ता है। परिस्थिति के वेग में भगवत्परायण बना मन उनकी सवारी नहीं हो सकेगा वरन् लम्बे समय तक कल्याण-धर्म-भक्ति के संस्कारों का अनुसरण जिसमें स्थिर हो चुका, वही उनका वाहन बनेगा। आप हैं 'स्मरारिं', कामना के दुश्मन। जहाँ आप रहें वहाँ कामना पास नहीं आती। पूर्वस्मृति (स्मरण) से प्रवृत्त होने के कारण कामना को 'स्मर' कहते हैं। अभी हमारी स्मृति विषयों की होने से उन्हीं की कामना उठती है। जब स्मृति ही शिव की रखेंगे तब भक्ति के अलावा कामना को उठने का अवसर ही कहाँ मिलेगा?

इस प्रकार, दुश्मन का भी साथ निभाने वाले सुसारथिरूप परमेश्वर के लायक घोड़े तैयार करना साधक का कार्य है। इसी को अधिकार-प्राप्ति कहते हैं। इस तरह के घोड़ों के अभाव में उपस्थित भी ईश्वर, इशारा करता भी रहेगा तो हम लाभान्वित नहीं होंगे। अतः रथी बननां और सही घोड़ों की व्यवस्था करना—यह कार्य जीव करे तब भगवान् का सुसारथि रूप कार्यकारी हो।

# प्रवचन विंश (२७.०९.१९६९)

शिवसङ्कल्पसूक्त के छठे मन्त्र का विचार करते हुए आत्मज्ञान की पूर्ण स्थिति की अवस्था का निरूपण करते हुए बताया कि जैसे सुसारथि घोड़ों को ले जाता है वैसे ही परमात्मा मनुष्य के स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों देहों को ले जाता है। रथ पर सारथि के नियन्त्रण की तरह सारथिरूप परमात्मा का ही इन पर एकमात्र नियन्त्रण होना योग्य है। किन मार्गों से ले जाता है— इसे अब बताते हैं। वेद में **वाचक्नवी सूक्त** है। आत्मज्ञ की पूर्ण ब्रह्माकार वृत्ति बनने पर जीव का मार्ग विस्तार से वहाँ बताया है। ईश्वर-जीव में भेद करने वाला प्रत्यय है—स्वतन्त्रता का संकोच। जड परतन्त्र होता है। उसमें अपना कोई भी नियमन नहीं, स्वतन्त्रता नहीं, प्रतिक्षण चेतन के आधीन रहता है—**'पराधीनप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम्'**। जो परतन्त्र बना चले, वह प्राणी तो है, उसे जीव (चेतन) मानोगे क्या? स्वतन्त्रतारूप लक्षण पेड़-पौधों में भी स्पष्टत: नहीं मिलता। यदि बढ़ने वाले को चेतन मानोगे तो तूतिया चेतन हो जायेगा क्योंकि घोल में पड़ी उसकी डली बढ़ती है। साँस लेने वाला जीव हो तो लोहार की धौंकनी में लक्षण चला जायेगा! बोलने वाला चेतन मानोगे तो 'टेप रिकार्डर' में लक्षण घटित होता है। चेतन तो स्वतन्त्र ही होता है। पाणिनि ने इसे 'स्वतन्त्र: कर्ता' से कहा है। हम लोग जब-जब अपने को पराधीन मानते हैं तब-तब अपने आत्मा को जड मानते हैं। 'क्या करें, हम पुराने संस्कारों के आधीन हैं, पूर्व कर्मों के फलस्वरूप ऐसे हैं, अथवा समाज के कारण ऐसा करते हैं' इत्यादि अनुभव में हम अपने को जड मान रहे हैं। दूसरे की आधीनता अपने पर लाते ही जड का लक्षण घटता है। यह जडता आरोपित है जबकि पत्थर सच्चा जड है। गाड़ी, मोटर जड हैं, बैल चेतन है। चैतन्य हममें स्वाभाविक है अत: जडता का सहज ही प्रतिरोध करते हैं जो हमारी मूलभूत स्वतन्त्रता का उद्घोष ही है। यद्यपि दोनों खींचने वाले हैं एवं चलाने वाले के परतन्त्र दीख रहे हैं। मोटर चल रही है, सामने पत्थर आ रहा है, नशे के कारण तुमने स्टेयरिंग को ग़लत काट दिया तो मोटर पत्थर पर धड़ाम से गिरेगी, वह नहीं कहेगी 'मुझे नहीं चलना है'। लेकिन गड्ढा दीखे तो बैल आगे नहीं बढ़ेगा, रस्सी खींचने पर भी, खड़ा रह जायेगा। तुम्हें

बाध्य होकर देखना पड़ेगा कि क्यों खड़ा हो गया। उसमें परतन्त्र होकर भी ज्ञान है 'यह मेरे लिये ठीक नहीं'; परतन्त्र हो कर भी बैल स्वाधीनता का उद्घोष कर रहा है। जीव के अन्त:करण से अच्छे-बुरे का ज्ञान नहीं जाता, क्योंकि उसकी चेतना का ह्रास नहीं है। यदि हम केवल वार्तालाप करते हैं, दिमाग में विचार घूमता रहता है किन्तु व्यवहार से सम्बन्ध नहीं बनाते तो स्वातन्त्र्य का विकास असम्भव हो जाता है। सम्मोहित, हिप्नोटाइज, किया जाता है तो चेतनता को एक महत् चेतन अपने वश में करता है। मनोवैज्ञानिक प्रयोगकर्त्ताओं ने सम्मोहित को कई प्रकार के काम करने को कहा। कहा 'चल कर खिड़की के पास जाओ, चढ़ जाओ' तब तक सम्मोहित व्यक्ति निर्देश पालन करता रहा। फिर कहा 'अब कूद जाओ'। तब वह नीचे की तरफ देखे, फिर पीछे की तरफ हटे; दो-तीन बार ऐसा किया फिर वह जग गया, सम्मोहन टूट गया। मृत्यु इत्यादि अनिष्ट होने वाला लगते ही सम्मोहन नहीं चलता। आत्मा की चेतनता, स्वतन्त्रता का ह्रास कभी नहीं होता। चेतन दो तरह का है—पहला जो परतन्त्रता का आरोप अपने ऊपर करता है दूसरा वह जिसने परतन्त्रता का आरोप नहीं किया। पहले का नाम जीव है दूसरे का नाम ईश्वर है। दोनों में यह भेद है। वेदान्त की भाषा में अविद्या के अधीन जीव है तथा जो अविद्या को वश में रखता है वह ईश्वर है। अविद्या ही परिच्छिन्नता है। इसमें ज्ञानका परिच्छेद भी है और क्रियाओं का परिच्छेद भी। ज्ञान और क्रिया की परिच्छिन्नता के अधीन जीव है जबकि इनका मालिक ईश्वर है। जो अविद्या को अर्थात् दूसरे की परतन्त्रता को बढ़ा भी सकता है और उसकी पर्तों को दूसरे के ऊपर से कम भी कर सकता है वह ईश्वर है। इस आरोपित सीमा का जितना-जितना अतिक्रमण करेंगे, ईश्वर के निकट जा सकेंगे जबकि यदि परिच्छिन्नता बढ़े तो समझो जडता की तरफ जा रहे हो। जिसने रथ परमेश्वर के आधीन कर दिया, उसमें अपरिच्छिन्न ज्ञान एवं क्रिया प्रकट होगी।

ब्रह्माकार वृत्ति को स्त्री मानकर देवीसूक्त में कहा—

'अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते'॥

कुलकुण्डलिनीरूप उमा हैमवती सहस्रार में पहुँचे तो सोम का स्राव होता है। वह 'रस', चुआने वाली, प्रकट करने वाली ब्रह्माकार वृत्ति कहती है कि मैं ही हूँ। रस कहीं बाहर से नहीं आता लेकिन अभिव्यक्त तब हो जब वृत्ति बने। 'बिभर्मि' को प्रेरणार्थ-प्रयोग (अन्तर्भावित ण्यर्थ) मानने से तात्पर्य है कि जिन्हें सोम का ज्ञान नहीं उनमें उस ज्ञान का आधान भी कराती है। जिसमें नित्य सोमस्राव होता है वही दूसरों में उसे धारण करा सकता है। त्वष्टा अर्थात् दीप्तिमान् जो ज्ञानप्रद आचार्य एवं पूषण अर्थात् ज्ञान को पुष्ट करने वाला साधन-कलाप, उन्हें भी मुख्य सहारा वह अखण्डवृत्तिरूप उमा ही प्रदान करती है। भग अर्थात्—

**'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।**
**ज्ञानं वैराग्यम् इत्येषां षण्णां भग इतीरणा' ॥**

समग्र ऐश्वर्य-धर्म-यश-श्री-ज्ञान-वैराग्य इन छह का नाम 'भग' है जिसे मैं स्वयं धारण करती हूँ और करवाती हूँ। ईश्वर ने जीव के स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों को जब सारथिरूप से अपने हाथ में लिया तब नित्य-निरन्तर सोमस्राव होगा, उसे कराने वाला भी वही बनेगा। आत्मज्ञान का पोषण वह करेगा-करायेगा। छह चीज़ें नित्य उसमें निवास करेंगी और वह दूसरों में उन्हें निवास करायेगा भी।

**'अहं दधामि द्रविणं हविष्मते'**—परमात्मा के लिये जो अपने को हवन कर देते हैं उनके साधन 'मैं' धारण करवाती हूँ। गीता भी कहती है **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** मैं भक्त के योग-क्षेम को ढोता हूँ। किन्तु भक्त हो 'अनन्य'। हम मुँह से कह देते हैं 'सब कुछ परमात्मा का है' और हमारे तीन में से एक भी लड़के की मृत्यु हो जाये तो रोते हैं कि लड़का छिन गया! अनन्य भक्त में ऐसा भेदभाव नहीं, उसी के योग-क्षेम का वहन परमेश्वर स्वयं करते हैं। **'सुप्राव्ये सुन्वते यजमानाय'** जो सोमस्राव करता रहने वाला शोभमान यजमान उसके लिये 'द्रविण' अर्थात् धनको मैं ही उपलब्ध कराती रहती हूँ। परमात्मा के लिये कर्म में रत रहनेवाले को संसाधन परमात्मा ही देता रहता है। आध्यात्मिक विकास में परमेश्वर का निरन्तर सहयोग निश्चित है।

केवल कारण में नहीं, स्थूल-सूक्ष्म में भी उसका प्रभाव बताते हैं—

**'अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।**
**तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्'॥**

राष्ट्र का अर्थ है जिसके अन्दर एक उद्देश्य प्रकाशित हो ऐसा समाज। आज हम समाज ही नहीं हैं क्योंकि एक-साथ मिलकर सम्यक् रूप से न तो विचार करते हैं, न ही रहते-चलते हैं। जंगल और बगीचे में क्या अन्तर है? बगीचे के पेड़ एक-दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं। जो टहनी दूसरे पौधे के लिये रुकावट बने उसे काटते हुए सभी पौधे पनपाते हैं तब बगीचा है। जंगल में जिस पेड़ की जो मर्जी वैसे बढ़े, कोई काटने वाला नहीं। आज हमारा समाज नहीं जंगल है जहाँ व्यक्ति या तत्तत् समुदाय के बढ़ने पर कोई रुकावट नहीं। बगीचे की योजना माली के मन में होती है, 'मुझे ऐसा ही बगीचा बनाना है' यह स्पष्ट उद्देश्य होता है। किन्तु आज जब किसी को उद्देश्य ही स्पष्ट नहीं है तब बगीचे की कटाई-छँटाई कैसे हो! इतना ही नहीं, 'केवल मैं ही बढ़ूँ' इसके अतिरिक्त कोई अन्य भावना नहीं रहने से समाज संगठित ही नहीं होता। मेरा धन, मेरा यश ही बढ़ना चाहिए की भावना समाज बनने ही नहीं देती। जब समाज ही नहीं तो राष्ट्र कहाँ से आवे! अनेक समाज मिलकर एक महत् उद्देश्य सामने रखें तो राष्ट्र बनता है। ब्राह्मण का उद्देश्य उपदेश देना, क्षत्रिय का रक्षा करना, वैश्य का वितरण करना, शूद्र का उद्देश्य सबकी सेवा करके सुख पहुँचाना। चारों ने मिलकर महत् उद्देश्य बनाया 'वेद'। ब्राह्मण वैद्यक, राजनीति, न्याय भी पढ़ा सकता है किन्तु वेदरक्षार्थ ही अध्ययन-अध्यापन करूँ—यह ब्राह्मण का महद् उद्देश्य है। क्षत्रिय कुल, ग्राम, पहाड़ की भी रक्षा कर सकता था किन्तु वेद के लिये रक्षा के सारे साधन जुटाना—यह क्षत्रिय का महत् उद्देश्य है। वेद के लिये ही हमारे धन का वितरण होगा—यह वैश्य समाज का महत् उद्देश्य है। वेद को सामने रख कर ही सबकी सेवा करने का उद्देश्य था शूद्र का। यह एक महत् उद्देश्य आज नहीं रहा। प्रत्येक व्यक्ति आज मानो राष्ट्र है, 'मेरी बात मानना' सबका उद्देश्य है। मन में है कि मैं ही आदि हूँ, मैं ही अन्त, मैं ही राष्ट्र का लक्षण हूँ! जबकि मैं राष्ट्र का घटक होने के नाते राष्ट्रसेवा के लिये प्रयत्न करूँ यही मेरे भी विकास का उपाय है।

**'संगमनी वसूनां'** वसुओं का संगमन कराने वाली मैं हूँ। वसु आठ प्रसिद्ध हैं अत: भूमि, जल, वह्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यों आठ तरह से बँटी प्रकृति की ठीक गति तभी हो जब परमात्म-बुद्धि स्थिर रहे। बौद्धिक, आर्थिक आदि सभी प्रकार के धनों का संगमन होना चाहिये, जितना जज़्ब होता जाये उससे आगे की गति हो तभी स्थिरभाव से उन्नति होगी। मुनाफ़ा मात्र सोचने वाला न विद्यार्थी के ज्ञान के परिपाक से मतलब रखेगा न देश के स्थायी चलते रहने वाले विकास के बारे में अत: संगमन नहीं हो पाता। आज स्थिति है कि वेद की बात मानने का प्रतीक जनेऊ है। कुछ लोग घर में जनेऊ को खूँटी पर लटका देते हैं, वापिस आकर पहनते हैं! अर्थात् जब घर से चले उसके बाद सब काम वेदविरुद्ध करेंगे! जैसे बस की लाइन तोड़ कर घुसना, दूसरे के अधिकार को छीनना। यदि भीड़ हुई, टिकट लेने वाला कश्मीरी गेट के आगे आया तो १० पैसे का टिकट माँग कर १० पैसे बचा लिये। व्यापारी भी अपने ऑफिस में तीन खाते लिखते हैं—एक खाता सरकार के लिये, एक साझीदार के लिये, एक जो गद्दी में बैंठकर काम करे उनके लिये। घर पहुँच कर जनेऊ पहनते हैं कि अब वेद की आज्ञा के अनुसार सो सकते हैं! यह उद्देश्य का, मूल्यों का बिखराव व्यक्ति व समाज के विशृंखलन और अध:पतन में ही फलीभूत होता है। आँखें, पैर, हाथ सब साथ जायेंगे, उन्हें घर पर छोड़ तो नहीं जाओगे? धूल आदि कुछ उछल कर आँख में घुसने लगे तो फौरन हाथ, अंगुलियाँ आदि उसे निकालने में तत्पर होते हैं। हाथ में दर्द आदि हो तो भी वह आँख की सँभाल के लिये उद्यत होता ही है। यों स्वाभाविक सहयोग संगमन है जो ईश्वरबुद्धि के बिना सम्भव नहीं। बल वाला, सेवा वाला, धन वाला, बुद्धि वाला सभी एक ही उद्देश्य के लिये चलेंगे तब संगमन होगा। वे ही अपने सामने महत्तर उद्देश्य रखेंगे तथा दूसरों के सामने भी रखवायेंगे। यह उद्देश्य का चयन करना प्राथमिक आवश्यकता है। स्थूलादि देह ईश्वर को सुपुर्द करने पर सारे ही व्यवहार में अन्तर आता है क्योंकि मैं-मेरा का परिच्छेद निष्प्रभावी हो जाता है जो संघर्ष का हेतु है। ईश्वर की तरफ बढ़ने पर स्वतंत्रता व्यक्त होती है अन्यथा परतंत्रता रूप जडता बढ़ती जाती है। जितनी मैं-मेरा की परिच्छिन्नता अधिक हो उतना समझना चाहिये कि अभ्यास का आवरण अधिक है, ईश्वर से दूरी ज़्यादा है।

# प्रवचन एकविंश (२८.०९.१९६९)

शिवसङ्कल्पसूक्त के अन्तिम मन्त्र में श्रुति कहती है कि परमात्मा मनुष्यों को वैसे ही ले जाता है जिस प्रकार सारथि घोड़ों को ले जाता है। साथ ही, जिस प्रकार डोरी से बाज को बाँध कर नियन्त्रण में रखा जाता है वैसे ही वह अपने नियन्त्रण में रखता है। साधक प्रार्थना करता है कि तीव्र गतिमान् वही, हमारे मन को शिवसंकल्प वाला करे।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण त्रिविध देह ही अश्व है। जब परमात्मा को जीव अपना नियन्त्रण दे देता है, उन्हें सारथि स्वीकार लेता है तब उन घोड़ों को परमात्मा भी अपने ही हाथों में लेता है। परमात्मा के सारथि बनने के बाद रथी का आचार-विचार कैसा होवे, इस पर विचार किया। पहले स्वयं रथी बनना होगा तभी परमात्मा सारथि बनेगा। एक चीज़ लोहा है दूसरी चीज़ आग है। लोहा काला ठंडा होता है। आग लाल, गरम होती है। दोनों का सम्पर्क होने पर पहले लोहा गरम होता है पर काला बना रहता है किन्तु और अधिक गरम होने पर लाल हो जाता है। फिर ज़्यादा गर्म होने पर ठोस भी लोहा तरल बन जाता है! तरह लोहे में जो भी पदार्थ डाल दो वह लोहा ही हो जाता है। स्टील की फैक्टरी में एक बार एक काम करने वाला आदमी उस पात्र में गिर गया तो हड्डी तक का पता नहीं लगा! वह लोहा ही हो गया। अग्नि में लकड़ी, पत्ता, कपड़ा सब जल कर अग्नि हो जाते हैं। गरमी, ललाई फिर तद्रूप कर लेना—ये तीन चरण अग्नि के हैं। लोहा उसके विपरीत ठंडा, काला, और ठोस अर्थात् किसी चीज़ को अपने में प्रवेश नहीं देता। जड-चेतन दो तत्त्व हैं। जड लोहे की तरह है ठंडा है—संसार के सब पदार्थ अपनी तरफ से स्पन्दन तक नहीं करते जब तक चेतन का स्पर्श न हो। वे स्वतः सारी क्रियाओं से रहित हैं। काला जड पदार्थ, कुछ भी जानने में असमर्थ रहता है जब तक चेतन का स्पर्श नहीं होता। लोहे के टुकड़े को आग में डालो तो गरमी आने पर स्पन्दन होगा। ऐसे ही जड पदार्थ में स्पन्दन चेतन के प्रवेश से ही होता है। शरीर जड है, इसमें चेतन का प्रवेश हुआ तो साँस चलने लगी, खून दौड़ने लगा, गरमी आई। ठण्डा पड़ा होता तो शरीर मृत कहलाता। मकान के अन्दर कोई न रहे तो वह कुछ दिनों में स्पन्दन-रहित

हो जाता है क्योंकि चेतन का सम्बन्ध नहीं है। बढ़िया मोटर गैरज में बन्द रहे। दो साल बाद निकालो तो खराब हुई मिलेगी। जड को चेतन का स्पर्श मिलता है तभी स्पन्दन आता है। यह प्रथम सोपान है।

लोहा आग में रखा तो उसमें ललाई आई। जड मन का चेतन से सम्बन्ध होता है तो मन में ज्ञान की चमक आती है। लोहा आग की तरह लाल दीखता है, इसी तरह मन आत्मा की तरह चेतन लगता है। इसीलिये मन जड है ऐसा पता नहीं लगता, घनिष्ठ सम्पर्क चेतन से होने के कारण चेतन-सा ही लगता है। मन को ध्यान, धारणा समाधि द्वारा और अधिक तपाओ, इनके द्वारा मन को अधिक से अधिक चेतन से मिलाते हो तो उसमें आत्म-साम्य बढता जाता है। मन को विषयों से मिलाया है तो काला और ठंडा हो गया है। आग के अन्दर से लोहा निकालो तो कुछ देर में उसकी ललाई भी जाती है, ठंडा भी हो जाता है और काला भी दीखने लगता है। ध्यान लगाने के बाद बाहर आओ और राय पूछें तो एक मिनट में ठीक निर्णय करते हो। इसके विपरीत, दिन भर की थकान के बाद निर्णय आधे घंटे सोच कर बताओ तो भी ग़लत होता है। महाराज जी कहते थे 'रात का निर्णय ठीक नहीं होता, सबेरे निर्णय करेंगे'। जो रात को सोते थे उनकी यह बात है, दिल्ली वाले दो बजे तक मोटर चलाते हैं तो क्या नींद पूरी होगी! चेतन का प्रभूत प्रवेश ध्यान से कराया जाता है। योगासन प्रायः प्रातः काल करते हैं। कलकत्ते में योग शाम को ४ से ६ बजे तक सिखाते हैं! सबेरे क्यों नहीं? ऑफिस में काम करने वाले सात बजे तक उठते ही नहीं। आठ बजे तक 'एअरकन्डीशन्ड' कमरे में सोते हैं। अतः शाम को योगाभ्यास सीखते हैं। प्रातः पचीस पश्चिमोत्तान करने वाला शाम को दस ही करेगा। प्रातःकाल जितना अभ्यास किया जा सकता है उतना थकान आने के बाद काम नहीं होता। सोकर उठे तो परमात्मा की गोद से उठे क्योंकि **'सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति'** सुषुप्ति में सत्से एक हो जाते हैं। साहित्यिक दृष्टान्त श्रुति ने दिया—**'तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्'**। पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म की कमाई कर जीव घर लौटा, परमेश्वर से मिला, तो सारी वेदना भूल गया। उस दशा में आभ्यन्तर राग द्वेष और बाह्य पुण्य-पाप किसी का भी ज्ञान नहीं रहता। निकले तो अन्तःकरण की पुनः

परमात्माभिमुखी करता है कि अज्ञात रहकर भी जिस परमात्मा ने स्वयं से मिलाकर आनन्द दिया उसे जानते हुए उससे मिला जाये। अतः जाग्रत् में किये ध्यान से अन्तःकरण की ज्ञानशक्ति बढती है। उससे अन्तःकरण उद्भासित होता है जैसे लोहा लाल होता है गर्म करने पर। आसक्ति या प्रेम का रंग लाल माना है। खून को रक्त इसीलिये कहते हैं कि उससे आसक्ति है। खून निकलने लगे तो हर कोई घबराने लगता है। शरीर में इतना खून है, आधा पाव निकलने से कोई फ़रक नहीं पड़ता! फिर भी रक्त के साथ इतना प्रेम है कि उसके किंचित् नाश से भी भय लगता है। जैसे अग्नि का लाल रंग लोहे में पहुँचा वैसे आत्मा से चैतन्य पाकर मन चेतन की तरह दीखता है। वह रंग रक्ति वाला, इच्छा वाला है! स्पन्दन के साथ इच्छा आई तभी गड़बड़ी शुरु हुई। इच्छा भी आत्मा का धर्म है। जड अन्तःकरण ने उसे लिया तो अपनी जाति के जड विषयों की ओर फैंकना शुरू किया। ज्ञान आया परमात्मा से, फैंका घट पटादि की तरफ; क्रिया आई परमात्मा से, उसे भी फैंका विषयों की तरफ। कारण? क्योंकि इच्छाओं को ही विषयों की तरफ फैंका था।

साधना से उसे यदि चेतन में लगाये रखते तो लोहा आग में पिघल जाता। अन्तःकरण के पिघलाव को ही शास्त्र पराभक्ति कहते हैं। तरल लोहे को देखकर यह पता नहीं लगता कि वह लोहा है। उसमें जो पड़े वह लोहा ही बन जाय! परमात्मा तब अन्तःकरण को अपने ही आकार में परिवर्तन कर लेता है। परिवर्तन कौन हुआ? अन्तःकरण। जड की ही सारी अवस्थायें हैं। चेतन अपरिवर्त्तनीय सच्चिदानन्द परिपूर्ण है। परिवर्तन जड में हुआ तो वह चेतनवत् हो गया। अतः कहते हैं **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**। भाष्यकार ने कहा है कि यह गुण कहीं और नहीं दीखता!

> **'दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः**
> **स्पर्शश्चेत् तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णताम् अश्मसारम्।**
> **न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये**
> **स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन चालौकिकोऽपि' ॥**

पारस से छू कर लोहा सोना बनेगा। वेदान्ती इस उदाहरण से खुश नहीं होता क्योंकि लोहा *पारस* नहीं हो जाता! ब्रह्म जैसा पहले था, वैसा आज है, वैसा ही रहेगा। ज्ञान देने वाला सद्गुरु तो अन्तःकरण से है। इसलिये पिघले लोहे का दृष्टान्त दिया।तरल, बहते लोहे और आग के गुणों में कोई फ़रक रहता है क्या? जड भी अन्तःकरण चेतन क़ा स्पर्श करने से जड जैसा रहा ही नहीं! जड की इन तीन अवस्थाओं को काल्पनिक ही समझो, किन्तु फलीभूत अन्तिम अवस्था वास्तविक है। बाहर से अन्तःकरण-देहादि में भेदप्रतीति जैसी भी होवे, गुरु से उपदेश पाकर एकमात्र परमात्मतत्त्व ही रह जाता है—

**'कुलंजातिवपुष्कर्मवयोऽनुष्ठानसम्पदः ।**
**अनपेक्ष्य शिवे भक्तिः शक्तिपातो फलार्थिनाम्' ॥**

शिवभक्ति एक ऐसा शक्तिपात है जो कुल, जाति, देह, कर्म, उम्र, धर्म, सम्पत्ति आदि किसी के भेद से प्रभावित नहीं होती। पिघला लोहा रूप अन्तिम परिणाम में लोहा, स्टेनलेस स्टील, कच्चा लोहा, सब तरल हो जाते हैं! जैसे लोहा दो इंच का हो या छह फीट का, पाइप में लगा हो या मन्दिर के त्रिशूल में, कुतुब में लगा पुराना हो या नया इत्यादि भेद की अपेक्षा के बिना कैसा भी लोहा गल जाता है वैसे शिवभक्ति सबको शिवरूप बना देती हैं। इन भेदों को क्यों नहीं ज़रूरी समझा जाता? क्योंकि तरल लोहारूप फल में कोई भेद नहीं है। जहाँ फल में भेद चाहोगे वहाँ अधिकारादि में भी भेद महत्त्वपूर्ण होंगे। **'या फलार्थितया भक्तिः सा कर्माद्यमपेक्षते'** फल के लिये की जाने वाली भक्ति तो कर्मादिभेद के हिसाब से प्रभावी होती है। मोक्ष, शिवभावमात्र के लिये की भक्ति भेद की परवाह नहीं करती।

शिवदृष्टि के रचयिता आचार्य सोमानन्द थे जिनके शिष्य उत्पलदेव थे। सोमानन्द की जब तत्त्वनिष्ठा पूर्ण हुई तब गुरु ने कहा 'सर्वत्र ज्ञान की तत्त्वनिष्ठा को लेकर विचरण करो'। विद्वान् के बारे में कहा ही है— **'वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः'**। वसन्त एक देश से दूसरे देश में जाता है तो नये पत्ते स्वयं निकलते हैं। वह हमेशा विचरण करता है, एक ही देश में वसन्त नहीं रहता। वसन्त ऋतु का ही दृष्टान्त क्यों? जिसमें सौन्दर्य बसे वह वसन्त है। ऐसे ही जिसमें परम शिव बसता है वही वसन्त है। वह नित्य ध्यान करेगा—

'शम्भुध्यानवसन्तसंगिनि हृदारामेऽघजीर्णच्छदाः
स्रस्ता भक्तिलताच्छटा विलसिताः पुण्यप्रवालाश्रिताः ।
दीप्यन्ते गुणकोरका जपवचः पुष्पाणि सद्वासना
ज्ञानानन्दसुधामरन्दलहरी संवित्फलाऽभ्युन्नतिः' ॥

(शिवा. ४७)

शम्भु जहाँ बस गये वही हृदय वसन्त का आनन्द लेगा। शंकर का प्रधान नाम शम्भु है, उनका प्रिय मन्त्र है। माला के प्रारम्भिक मणके की तरह शिवजी का मन्त्र इस नाम से शुरु होता है 'नमः शम्भवे च मयोभवे च' इत्यादि। इस मन्त्र में जितने नाम परमात्मा के हैं वे आत्मोपलब्धि और उसकी स्थापना दोनों बताते हैं। शं अर्थात् कल्याण, सुखस्वरूप जो बन गया वह शंभु। जो सुखरूप बन गया वह मयोभु। फिर कहा 'शंकर' और 'मयस्कर' अर्थात् कल्याण करने वाले बनो, आनन्द करने वाले बनो। साधक को क्या बनना है, क्या बनाना है—दोनों बताये। **'नमः शिवाय च'** प्रतिक्षण शिवस्वरूप बने रहना बताया। **'शिवतराय च'** अर्थात् शिव से भी शिवतर बनना, तात्पर्य है कि आनन्द व ज्ञान अधिक होता रहे। यह प्रतिक्षण अभिवर्धमानता आवश्यक है। विकास के प्रति निरन्तर सजगता से यत्नशील रहना भक्त का कार्य है। तभी उसमें परिच्छिन्नता नहीं होती। परमात्मा की अनन्तता होने से, 'सब हो गया, आगे कुछ नहीं'—यह भक्त के लिये कहना ग़लत है। वसंत की तरह भक्त को ध्यान प्रफुल्लित रखता है। एक ईसाई पादरी शिष्यों को प्रवचनकला सिखाते हुए बोला 'जब भी परमेश्वर का वर्णन करो तब प्रसन्न मुख, दाँत खिले हुए इत्यादि खुशी दिखाते हुए करना। नरक का वर्णन करते समय तुम्हारी सामान्य मुखमुद्रा चलेगी'! अर्थात् सामान्यतः मुख पर आह्लाद नहीं दीखता क्योंकि हृदय शंभु में लीन नहीं होता। अनेक ध्यानी भी साधारण काल में प्रसन्न नहीं दीखते किन्तु वह उचित मनोदशा नहीं बताता। भक्त को भगवान् का आनन्द महसूस होना चाहिये। याज्ञवल्क्य ब्रह्मज्ञान का प्रमाण-पत्र देते हुए कहते हैं—**'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि'**। हर क्षण भय ही लगता रहा, घर का भय, छू जाने का भय, सड़क का भय, देवी-देवता, भूत-प्रेत कहीं चढ़ नहीं जावे इसका भय इत्यादि हर स्थिति में

अभय के बजाय यदि आस्तिक डरपोक बना तो वह नास्तिक से भी अधिक डरावना हो जायेगा!

भक्त, शंभुस्वरूप हो गये तो हमारा हृदयरूपी बगीचा सुन्दर हो जाता है। पापरूप पुराने पत्ते गिर जाते हैं। बीन-बीन कर पाप कहाँ तक हटाओगे! भगवान् ने कहा है कि 'अनन्यभाक् होकर भजन करने वाला अति पापी भी रहा हो तो उसे साधु ही समझना चाहिये'। सब्जी मंडी के नाले का लोहे का टुकड़ा भी टाटा के बॉयलर में डालो तो घोल में एकमेक होने में कोई समय नहीं लगता तथा वहाँ कोई फ़र्क भी नहीं दीखता। इसी प्रकार अनन्य भक्ति सारे पाप दूर कर साधुता सम्पन्न कर देती है। सद्गुणरूप डालियाँ भी तब नयी फूटती हैं जिनपर परमात्मजपरूप फूल खिलते हैं। ज्ञान का आनन्द सर्वथा उल्लसित रहता है।

सोमानन्द के मन में आया, 'जिस देश में उपकृत हुआ, सबसे पहले वहाँ चलूँ'। कान्यकुब्ज जाकर उपदेश देना शुरु करूँ'। प्रतापादित्य राजा गंगा के किनारे कानपुर के पास कन्नौज आये थे। सोमानन्द आत्मचिन्तन में गंगा के किनारे रत थे, राजा वहाँ विषय-चिन्तन में संलग्न थे। योगी-भोगी दोनों को शान्त प्राकृतिक वातावरण अच्छा लगता है। योगी समाधि में लीन रहने के लिये एवं भोगी भोग-वासना की पूर्ति के लिये वैसा चाहता है। योगी एकान्त में परमात्मा को याद करता है, भोगी विषय का चिन्तन करता है। योगी को सुगन्धित पुष्प देखते ही ईश्वर याद आयेगा, भोगी को वेणी का ध्यान आयेगा। राजा ने गंगा में जलक्रीडा की, खाया-पिया लेट गया। रानी घूमने लगी। काश्मीर से आये महात्मा को देखते ही श्रद्धापूर्वक बात करने लगी। वे तत्त्वज्ञान का उपदेश देने लगे, रानी एकाग्र मन से तीन घंटे तक सुनती रही। राजा उठते ही सोचने लगा 'सब रानियाँ कहाँ चली गईं'! भोगी का एक उद्देश्य नहीं होता, **'बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'** भोगी को बहुत चीज़ें। चाहिये रहती हैं। योगी को परमात्मा के सिवाय और कुछ नहीं चाहिये। इस प्रकार योग में एकाग्रता होती है जबकि भोग में अनेकाग्रता रहेगी। प्रतापादित्य ढूँढने चला तो महात्मा के पास उन्हें बैठा देखकर उसे क्रोध आया, पूछा 'तुम यहाँ गंगा-किनारे क्यों आये?' सोमानन्द ने कहा 'गंगा से पूछो। तुम्हारी रानी यहाँ आने से पहले गंगा कह रही थी कि राजा

क्यों आया?' राजा बोला 'मैं तो रानियों के लिये आया हूँ'! सोमानन्द ने कहा 'शायद इन रानियों के प्रारब्ध से तुम आ गये। इनका सत्संग का प्रारब्ध था।' राजा ने कहा 'रानियों से दो घंटे से बातें कर रहे हो, तुम्हारा उनसे क्या मतलब था?' उसने तलवार निकाली तो सोमानन्द ने कहा 'इसकी मूठ तो सुन्दर है।' राजा बोला 'तुम्हें काट दूँगा'! पर फिर राजा ने एक बाम्बी का लोंदा उठा कर फेंका। सोमानन्द पर चींटियाँ ही चींटियाँ चिपक गयीं। राजा वहाँ से चला गया। सोमानन्द ने गंगा में स्नान किया तो चींटियाँ धुल गयीं।

राजा घर जाकर घबराया कि चींटि उसे खा गई अथवा वह अभी ज़िन्दा है? वह रानी से कहे 'जूड़ा ठीक नहीं, खाना ठीक नहीं' आदि। रानी बड़ी विदुषी थी। उसने कहा 'न भोजन में खराबी है, न शृंगार में, न मौसम में। जिसे सबमें खराबी दीखती है उसी में खराबी होती है। उस दोष को हटाना होगा। हम में से एक का शृंगार खराब हो सकता है, एक से नृत्य में ग़लती हो सकती है, आपको सब में दोष दीख रहा है'! राजा ने कहा, 'मुझे लगता है कि मैंने महात्मा से दुर्व्यवहार कर बुरा किया'। रानी ने सलाह दी कि अब उसी के पास जाकर दोष दूर करें। सामान्य व्यक्ति का रूप धारण कर राजा फिर पहुँचा। प्रातः काल का शांत समय था, शीतल मन्द वायु बह रही थी। गंगातट पर महात्मा विराजे थे! केवल बाहरी ही नहीं, उनके हृदय में भी 'व्यापिनी ज्ञानगंगा' की ही अविरल धारा बह रही थी जिसमें माया नामक वायुप्रवाह से अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न-विलीन होते ही रहते हैं जबकि वह प्रवाह शान्त गंभीर निर्विकार ही रहता है!

राजा नमस्कार करके बैठा। ग़लती की क्षमा माँगी। योगी हँस पड़े— 'तुमने कहा 'उस दिन मुझसे ग़लती हो गई', पर बात समझ में नहीं आई। उस समय *तुम* कौन थे? 'मैं ठीक कर रहा हूँ' यह जानने वाले। आज कौन हो? 'मैं ग़लती कर रहा था' यह जानने वाले। तुम वह हो कहाँ जिसने ग़लती की थी? इतनी देर में गंगा न जाने कहाँ से कहाँ पहुँच गई, वायु का प्रश्वास न जाने कहाँ पहुँच गया! तेरा भ्रम है कि 'मैं वही हूँ', अतः अशान्ति सिद्ध नहीं होती।'

**स्वयं भोक्ता स्वयं ज्ञाता स्वयं चैवोपलक्षये।**



**स्वयं बध्नाति देवेशः स्वयं चैव विमुञ्चति ।।**

'हम स्वयं किसी हाथ से दीमक डालते हैं, फिर धो लेते हैं। मैंने ही गंगा में शीतल लहरी का आनन्द लेने के लिये खुद पर बाँबी डाली। विक्षेप करने वाला कोई अन्य होता तो आता! **'अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति'** हमने किसी को जायमान ही नहीं देखा। कोई मुझसे विरुद्ध धर्मवाला पैदा होता तो मुझे विक्षेप होता। क्रिया की कभी प्रतिक्रिया न करो यह शान्ति का नियम है। तुमने गाली दी, मैंने थप्पड़ मारा, तो मैं ग़ुलाम और तुम मालिक हो गये! जड की क्रिया से मैं चेतन कैसे प्रतिक्रियावान् बनूँ? शुभ क्रिया से भी प्रतिक्रियावान् न बनो। वासना का उद्भव शुभ क्रिया से भी होता है जैसे 'धन मेरा कितना उपकार करता है' सोचो तो उससे प्रेम हो जाता है। पत्नी कितना प्रेम करती है देखो तो आजीवन उसकी गुलामी करो।

**'स्वयं भुक्तिश्च मुक्तिश्च स्वयं देवी स्वयं प्रभुः ।**
**वस्तूक्तमत्र स्वातन्त्र्यं स्वात्मरूपप्रकाशनम् ॥'**

इसी प्रकार पूर्णता सम्भव हो सकेगी। स्वयं प्रभु तथा स्वयं देवी सामने आयेंगे। नित्य-निरन्तर अपने अनन्त रूपों में देवी-प्रभु दर्शन देते रहेंगे'। इसी साधना में राजा लग गया और उसने सफलता प्राप्त की।



## प्रवचन द्वाविंश (२९.०९.१९६९)

**'ॐ सुषारथिः'** इत्यादि शिवसङ्कल्पसूक्त के मन्त्र की व्याख्या चल रही है। यहाँ तक स्पष्ट किया कि आत्मज्ञान की पूर्णता में वही साधक सफल होता है जिसने अपने 'मनु' को समाप्त कर दिया। बृहदारण्यक के प्रारम्भ में सृष्टिवर्णन में सबसे पहले विराट् की उत्पत्ति कही। वह पहले अण्डे की तरह था—**'तदण्डम् अभवत्'**। उस विराट् पुरुष के अन्दर **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'** यह संकल्प उत्पन्न हुआ। उस अण्डे में द्वितीय का अभाव था क्योंकि उनके सिवाय कोई दूसरा था ही नहीं। ऐसी स्थिति में बहुभवन के लिये एक के ही टुकड़े करने पड़ते हैं। ये टुकड़े कभी वास्तविक, कभी काल्पनिक होते हैं। पाँच रुपये के नोट को *तुड़वाते* हो फिर भी वह नोट वैसा का वैसा बना रहता है। उसमें से ५ एक-एक के नोट *निकल* आते हैं। ऐसा

तुड़वाना काल्पनिक है। एक से बहुत बनाओगे तो टुकड़े करने पड़ेंगे ज़रूर, चाहे काल्पनिक करो या सच्चे। डोरी एक है, बिस्तर को दो तरफ से बाँधना है—एक गोलाई की तरफ से दूसरा लम्बाई की तरफ से। या तो डोरी के दो टुकड़े कर लो अथवा गोलाई में बाँध कर गाँठ पक्की कर दो, फिर दो टुकड़े चौड़ाई में घुमा कर बाँध लो अर्थात् तोड़े बिना दो भाग कर लो। उस विराट् पुरुष ने संकल्प से अपने आपके दो टुकड़े किये। तभी से दार्शनिक एकमत नहीं हो पा रहे हैं—कि टुकड़े सच्चे हुए या झूठे! वेदान्ती कहता है, सच्चे मानने में एक दोष आता है कि डोरी को तोड़ कर फिर जोड़ना चाहो तो गाँठ रह ही जायेगी। कभी भी किसी के हृदय के साथ अपने सम्बन्ध को तोड़ना नहीं चाहिये। लोभ, मोह, द्वेषके कारण हृदय में कालिख आ गई तो मेल-मिलाप होने के बावजूद निश्छल प्रेम फिर नहीं पनपता। परब्रह्म सचमुच दो हो गया तो बीच की गाँठ रह जाती है। वह आनन्द नहीं आता जो एकता में है। परमात्मा जीवभाव में इसलिये नहीं गये कि हमेशा दु:खी बने रहें। वह तो *अलग* होकर *मिलाने* की तैयारी थी। आधार प्रेम था, भेद नहीं। अत: वेदान्ती कहता है कि जीव को काल्पनिक ढंग से अलग किया, 'अर्धबृगलम् इव' चने के दाने के आधे-आधे हिस्सों की तरह। चने की एक झिल्ली मात्र से दो भाग एक चना प्रतीत होते हैं। विभाजन होने पर मनु-शतरूपा दो नाम हो गये। शतरूपा अर्थात् अनन्त रूपों वाली। सैकड़ों रूप लेकर जो आये उसमें मनु (साक्षी) सब जगह एक-जैसा रहा। शतरूपा सर्वत्र भिन्न-भिन्न तरह की थी जिसके कारण मनु में भेद की प्रतीति होती है। अमरणधर्मा अनेक रूपों के साथ मोद करता है। शतरूपा के एक रूप में प्रतिबिम्बित मनुष्य, अन्यान्य रूपों में प्रतिबिम्बित विभिन्न सब प्राणी, किन्तु वास्तविक मनु साक्षी, चिन्मात्र, एक आत्मा ही है। शतरूपा अर्थात् जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ा वह उपाधि अनेकता वाली हुई, भेद उपाधि में ही रहा।

हम मनुष्य हैं, हमारा सारा क्षेत्र कहाँ से प्रारम्भ होगा? मनुष्य से। पाश्चात्य कहते हैं, छोटे से शुरू होकर बड़ा हुआ। हम कहते हैं, मध्य से ही शुरू हुआ! बुरे कर्म करके पशुरूप में आयेगा, अच्छे कर्म करके देवरूप में। पशु से शुरू करें तो वह स्वयं असमर्थ होने से न आगे जा सकेगा न पीछे। अत: पाश्चात्य लोग विचारित विवेकपूर्ण विकास न मानकर जंगल न्याय से

'जो तगड़ा सो बढ़ा' रीति से विकास की कल्पना करते हैं। हमारा मानना है कि समझ-बूझकर मनुष्य उन्नति-अवनति प्राप्त करता है। जो अपने आचारादि से भ्रष्ट हो गये वे मनुष्य ही पशु बने। अतः जीवमात्र को मनुष्य कहा जाता है क्योंकि कभी सभी मनुष्य होते हैं। उपाधि और उपाधि को जानने वाला अर्थात् ज्ञेय और ज्ञाता एकमेक हुए तब सृष्टिभेद प्रकट हुआ। अन्तःकरण की उपाधि जड है, उसमें आत्मा का प्रकाश चेतन है, दोनों के सम्बन्ध से ही विभिन्न जीव हैं। विराट् के दो काल्पनिक टुकड़े सर्वत्र एक हो रहे हैं अर्थात् मिल रहे हैं, किन्तु यह वास्तविक एकता नहीं हो रही है। बिम्ब और दर्पण का आमने-सामने आना-रूप मिलना ही प्रतिबिम्ब का हेतु है किन्तु यह 'मिलना' सच्चा नहीं। प्रतिबिम्ब बिम्ब से 'मिल' जाये तब तो कह भी सकते हैं कि मिलना सत्य है क्योंकि वास्तव में है ही इकलौता बिम्ब। किन्तु वह प्रक्रिया दूसरी है, अपवाद की है, अभी अध्यारोप-प्रक्रिया है जिसमें बिम्ब-उपाधि के 'मिलने' का प्रभाव बता रहे हैं। नाम-रूप के साथ अपने आत्मस्वरूप की एकता भी एक तरह की एकता है। इसी के निवारणार्थ 'मैं देह नहीं' यह पहली शिक्षा ज़रूरी। पञ्चभूत मेरे से अतिरिक्त नहीं हैं—यह अन्तिम शिक्षा। जब सारे ब्रह्माण्ड के पञ्चभूत मेरे से अलग नहीं तो क्या मैं अलग हूँ! विवेक अर्थात् अलग करना और अद्वैत अर्थात् यों मिल जाना ये दोनों आवश्यक हैं। तात्पर्य है कि साधना-प्रारम्भ भेदज्ञानरूप विवेक से होगा किन्तु पूर्णता में सर्वथा अभेद उपलब्ध होगा।

इस प्रकार मनु और शतरूपा की विराट् पुरुष से एकता समझना आवश्यक है। **'संवित् देवी शिवं स्पृष्ट्वा तन्मयीव भवत्यलम्'** वह संवित् शिव का स्पर्श करते ही शिवमयी हो जाती है। मयट् प्रत्यय, विकार या प्राचुर्य बताता है। संवित् की शिवमयता में न विकार सम्भव, न प्राचुर्य क्योंकि प्राचुर्य या आधिक्य स्वल्पमात्रा में भेद की आवश्यकता रखता है। 'प्रचुर चीनी है' का 'केवल चीनी है' मतलब नहीं होता, अधिक है—इतना ही अर्थ होता है। इसलिये 'इव' लगा दिया, **'तन्मयी इव'** से कहा एक ही है। धूप में हमारी छाया कहाँ से आई? मेरी है, मुझसे आई। अब बादल आ गया, सूर्य ढक गया तो छाया देवी कहाँ चली गई? मोटर में बैठा कर क्या घर भेज दिया? नहीं, मेरे शरीर में प्रविष्ट हो गई। ऐसे ही संवित् देवी

शिवमयी हो जाती है। **'यावन्न पश्यति शिवं नित्यतृप्तम् अनामयम्'** जब तक नित्य संतुष्ट निर्दुःख आत्मशिव को देखा नहीं, तभी तक शिव और संवित् में भेद-प्रतीति है। तब तक जीव सबेरे से शाम तक सुख ढूँढ रहा है, ढूँढ मिटती नहीं। **'कति नाम सुता न लालिताः'** अनन्त जन्मों में कितने बच्चे नहीं खिला लिये! फिर भी कहते हैं 'बाबू जी, मेरा ब्याह करो'। अनन्त जन्मों से धन कमा कर खो दिया पर पेट नहीं भरा। नित्य तृप्त के स्पर्श को जब तक अनुभव नहीं करोगे, नित्य तृप्त नहीं बनोगे। अग्नि को छू कर ही अग्नि बनोगे, बर्फ को छू कर नहीं! स्वयं अतृप्त पदार्थ तुम्हें तृप्त कहाँ से करेंगे? घट देखकर हमें घट का ज्ञान कैसे होगा? जो घट खुद अपने को ज्ञान वाला नहीं बना पाया, वह हमें ज्ञान क्या देगा! विषय हमें ज्ञान नहीं दे सकते, हम ही उन्हें ज्ञात (ज्ञान वाला) बनाते हैं। यही सुख, तृप्ति के बारे में जानना चाहिये। ज्ञान हममें है, बाहर से उसकी आशा व्यर्थ है। आत्मरूप से अनन्त होने के कारण, जिसने समझा 'मैंने सब जवाब जान लिये' वह बुड्ढा हो गया! जवान को हर क्षण, हर बार नवीनता का ज्ञान होता है। एक गुरु ने शिष्यों से कहा 'तुम इतने प्रश्न पूछते हो, हम कहाँ तक जवाब दें! कितनी किताबें पढ़ोगे? अन्दर कोई ज्ञान तत्त्व बैठा है, उसी से पूछ कर मैं जवाब देता हूँ, तुम भी उसी का स्पर्श करो, निरन्तर उत्तर मिलता रहेगा'। टेप रिकार्डर में जिस आवाज़ ने बोल दिया है उसी आवाज़ को फैलाता रहता है। उसी प्रकार देहेन्द्रियादिसंघात किसी के द्वारा भर कर बजाया जाता है, तुम उस भरने वाले का स्पर्श करो। घड़ा, कपड़ा क्या ज्ञान देंगे? जो धन खुद मौज नहीं ले पा रहा है उन नोटों से क्या तुम्हें मौज आ सकती है? यह भ्रम है। हम ही उसे आनन्द वाला बना कर समझते हैं कि उससे आनन्द आ रहा है। हम ही अतृप्त पदार्थों में तृप्ति डाल कर उनसे तृप्त हो रहे हैं ऐसा मानते हैं। आनन्द-तृप्ति को विषय से आने वाला समझना हमारी भूल है। शिव नित्य तृप्त है। अनामय अर्थात् आमयरहित। आमय मायने दुःख, शोक, रोग आदि। शिव में दुःख, शोक, रोग आदि का अत्यन्त अभाव है। वे स्पर्श करेंगे तो करेंगे कब?

**'किं ब्रूमस्तव साहसं पशुपते कस्यास्ति शम्भो भव-**
**धैर्यं चेदृशम् आत्मनः स्थितिरियं चान्यैः कथं लभ्यते।**

**भ्रश्यद्देवगणं त्रसन्मुनिगणं नश्यत्प्रपञ्चं लयं**
**पश्यन्निर्भय एक एव विहरत्यानन्दसान्द्रो भवान्' ॥**
(शिवा. ३४)

'साहस' से हिम्मत और ज़बर्दस्ती—दोनों भाव संगृहीत हैं। सर्वस्व-हरण का उनमें साहस भी है और सत्य के बल पर असत्य का हरण करने में वे ज़बर्दस्ती भी कर लेते हैं क्योंकि सत्य का बल ही ऐसा है। जीव का सर्वस्व ऐसा हरते हैं कि उसे अपना ही स्वरूप बना लेते हैं। लोग देखते हैं कि घोड़े चल रहे हैं, समझदार जानता है कि अन्दर से सारथि ही *चल* रहा है। मुड़ा कौन, घोड़ा? नहीं, सारथि जिसने लगाम खींची। भक्त की जान ही नहीं रही, शिव ने उसे अपनी जान बना लिया। जिसमें बुद्धिमत्ता और धीरज होंगे वही इतने बड़े साहस का कार्य कर सकेगा। जल्दबाजी में परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती। शंकर का धैर्य अद्वितीय है—अनादि काल से अनन्त काल बीत गया, असंख्य ब्रह्मा, रुद्रों का परिवर्तन हो गया, शंकर जी आज तक धैर्यपूर्वक बैठे हैं कि 'प्रत्येक जीव मेरी तरफ आयेगा'; इसी इन्तज़ार में तो श्मशान में जाकर बैठते हैं! उनका मानना है कि यदि जीते-जी आये तो जीवन्मुक्ति दूँगा अन्यथा मरकर तो आयेगा ही, तब विदेहमुक्ति हो जायेगी। अनन्त काल से देहरूप श्मशान में बैठे हैं जहाँ प्रतिबिम्ब को ब्रह्माकार वृत्तिरूपी चिता में जला डालते हैं! वे जिस श्मशान में बैठे हैं वहाँ इन्द्रियाँ प्रमाण, विषय प्रमेय और तुम प्रमाता हो। मुक्त होने पर **'भ्रश्यद् देवगणं'** वह प्रमाण नष्ट हो गया। केवल प्रमा ही रह गई। सामान्यत: पाँच कर्मेन्द्रियाँ गिनते हैं किन्तु भेड़ा सिर की टक्कर से दूसरे से लड़ता है, उसकी कौन-सी इन्द्रिय काम कर रही है? अत: पाँच की गिनती में आग्रह नहीं। क्रिया-शक्ति ही विविध प्रकार से व्यक्त होती है।यही बात ज्ञानशक्ति की है। **'त्रसन्मुनिगणं'** मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार त्रास पा रहे हैं। कहाँ वासनायें रहेंगी, कहाँ से निकल कर आयेंगी! **'नश्यत्प्रपंचं लयं'** प्रमेय भी नष्ट हो गया। सब बाह्य आन्तर इन्द्रियाँ तथा विषय समाप्त हो गये, समाधि की स्थिति हो गई। **'निर्भय एक एव विहरति'** अकेले को क्या भय? यदि इच्छा पूर्ण नहीं हुई तो दुकेलापन चाहता है। किन्तु शिव अकेला विहार करता है। विषयों से कौन चिपटा रहता है? जिसके पिता दस लाख रूपये दे गये, खुद वह कुछ

कमाता नहीं, वह मौके पर हज़ार रुपये भी खर्च नहीं कर पायेगा क्योंकि उसमें सृष्टि की शक्ति नहीं है। जो दो हज़ार रुपये महीना भी कमाता है वह एक हज़ार खर्च कर देता है क्योंकि जानता है कि फिर अगले महीने कमा लेगा। इसीलिये हम पदार्थों से चिपटते हैं, भगवान् नहीं। भगवान् नदी बहाते हैं, हम नल से पानी टपकने पर घबराते हैं! जिसके अन्दर पूर्णता है उसी का त्याग सर्वथा विकसित हो पाता है। खालीपन में वैराग्य अपूर्ण है, माल अन्दर भरा हो तभी वैराग्य सक्षम है। यही स्थिति विद्या में है। अज्ञ को ग्रन्थों से प्रेम होगा, विज्ञ ग्रन्थों को छोड़ देगा!

**'ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।**
**पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः' ॥**

वैराग्य के लिये अन्दर पूर्ण होना आवश्यक है। यही शिव के विहार की विशेषता है। **'आनन्दसान्द्रो भवान्'** आनन्दघन रूप में उसकी स्थिति है।

इस प्रकार प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता समाप्त होने पर बाह्य व्यवहार दिखाई देता है पर वहाँ केवल प्रमा ही है। विराट् पुरुष में मनु-शतरूपा एक थे। अनेक उपाधियों में मनु का खेल हुआ। उपसंहार में वह पृथग्भूत मनु भी नहीं रहा, एक अखण्ड आनन्दघन ही रहा। शतरूपा भी नहीं रही, शिव-शक्ति यह द्वैत नहीं रहा, केवल आनन्द का आभास अबाध है। प्रतिबिम्बों की उस वास्तविक एकता से आनन्द ही आनन्द है। प्रतिबिम्बों की बिम्ब से एकता हो जाने पर नित्य तृप्ति, अनामय, आनन्दघन शेष रहेगा।



## प्रवचन त्रयोविंश (३०.०९.१९६९)

शिवसङ्कल्पसूक्त के अन्तिम मन्त्र में श्रुति ने बताया कि आत्मज्ञान की पूर्णता हो जाने पर त्रिविध शक्तियों का समन्वय हो जाने से देश, काल, कर्म, कार्य, कारण आदि परिच्छेदों के मूलतः नष्ट हो जाने पर जीवभाव का उच्छेद हो जाता है, ईश्वररूपता ही अवशिष्ट रहती है। अतः ब्रह्म के लिये 'उच्छिष्ट' शब्द का प्रयोग है, उत् ही शिष्ट रहता है।

**'तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु'** यह पाद छहों मन्त्रों में आया है। इससे ठीक पूर्व में आया है **'जविष्ठम्'** अर्थात् अतिशय तीव्रवेग वाला। शिवसङ्कल्पसूक्त का अन्तिम पद यह बताता है कि साधनों का अन्तिम परिणाम जविष्ठता यानि तेज़ गति है। प्रारम्भ में सब तरफ से नियन्त्रित करना है, एक-एक कदम धीरे-धीरे जमाते हुए चलना है लेकिन *सदा* धीरे चलना साधना का उद्देश्य नहीं। जैसे छोटा बच्चा पैर धीरे-धीरे जमा कर चलता है, लगता है मानो खिलवाड़ कर रहा है, किन्तु उसके लिये वही बड़े परिश्रम का कार्य है। वह धीरे-धीरे चलना जविष्ठ बनने के लिये है। कई शताब्दियों से क्रियाहीन अध्यात्मवाद हमारे खून में भर गया है! ध्यान-समाधि के अन्दर सभी शक्तियों का मन्द हो जाना अध्यात्मवाद मान लिया गया है। वास्तव में यहाँ कुछ खोना नहीं है, जीवन की पूर्णता ही आध्यात्म साधना है, यहाँ ज्ञान, इच्छा, क्रिया शक्ति पहले की अपेक्षा से कम नहीं होती है वरन् पूर्ण हो जाती है। अज्ञान-प्रभाव में इच्छा शक्ति का एक बड़ा भाग काम में नहीं लेते, जिन शक्तियों को हमने क्रियाहीन बना दिया है उन सबको अब काम में लाना है।घर छोड़कर जाना चाहते थे किन्तु घर क्यों छोड़ना? क्योंकि सब घरों को अपना घर बना लेना है। इसी प्रकार यदि तुम सब स्त्रियों को अपनी माता बनाना चाहते हो, सब घरों को अपना घर बनाना चाहते हो तभी परमात्मा का अनुसरण करो। ध्यान मन की निष्क्रियता नहीं है बल्कि तीव्र क्रिया है। ज्ञान की हल्की क्रिया के द्वारा भी पदार्थ की एक दो पर्त खोलते ही हैं। घड़े के ऊपर रूप का आवरण, रंग का आवरण भंग करते हैं, एक-दो पर्त तोड़ कर कहते हैं 'घटज्ञान हो गया'। वैज्ञानिक चार पाँच पर्त खोलता है। अधिष्ठान पर अनेक आवरण हैं। ब्रह्म व्यापक है। जितने उसके आवरण तोड़ कर व्यापकता को नज़दीक से जानोगे उतना ज्ञान पूरा होगा। घट को घटत्वेन, पृथिवीत्वेन, पदार्थत्वेन, प्रमेयत्वेन शिवत्वेन— इस प्रकार से जाना तो व्यापक, व्यापकतर ज्ञान तब तक होता गया जब तक सर्वरूप से (शिवत्वेन) जाना। सेब गिरने से न्यूटन ने *पदार्थमात्र* के गिरने की क्रिया देख ली अर्थात् सेवत्वेन ही नहीं, व्यापक रूप से वह देख सका। ज्ञान शक्ति जितने ज़ोर से जाकर प्रहार करेगी उतना ज़्यादा आवरण मिटेगा। यदि

अत्यन्त पूर्ण वेग के साथ ज्ञानशक्ति भेदेगी तो सीधे ब्रह्म का ही दर्शन करेगी! भेदन करके स्वरूप में जाकर स्थित होना **'जविष्ठता'** है।

किन्तु हमारी क्रिया परिच्छिन्न है। एक काम करने से दूसरे में प्रमाद हो जाता है जिसे कहते हैं 'एक साँधे तेरह फटे'। बच्चे को प्यार करने लगे तो उसकी पढ़ाई खराब हो जाती है, वह गाली देना सीखता है! अब उसके साथ सख़्ती की तो उसमें हीन-भावना का विकास हो गया। क्रिया की पूर्णता नहीं रहती। मछली पकड़ने का जाल तालाब में फेंका, एक धागे के खींचने से सब एक-साथ बँध गईं—यह सूत्र, तन्तु की विशेषता है। ऐसी क्रिया को जविष्ठ कहते हैं। ध्यान अधिकाधिक पर्तों के भेदन करने के लिये है, विचार कुंठित करने के लिये नहीं। वृत्तियाँ यदि चारों तरफ फैलें तो एकाग्र करने के लिये किसी प्रतीक को सामने रखना पड़ता है। पर इसी का नाम ध्यान नहीं है। धागे को सुई में डालते समय 'बट' देकर डालना पड़ता है। इतना काम सिलाई नहीं है। सिलाई तो बाद में शुरू होगी, उस धागे को अनन्त छेदों में से बाहर निकालना पड़ेगा। अभी मन का सिरा बिखरा करके रखा है। पहले मन को 'बट' देकर एकाग्र करना पड़ेगा किन्तु केवल वह ध्यान नहीं है, उसे अनन्त परिस्थितियों में ले जाते हुए उसी सूत्र से पिरोया बनाए रखना ध्यान है। सारे अनुभवों में परमेश्वर के भिन्न-भिन्न पहलुओं को प्रकट करते-करते चलना है। उसमें जितनी तीव्रता आई उतना ध्यान शुरू हो गया। अनुभव से सिलाई की गति बढ़ने की तरह आत्मतत्त्व को विषय करने में पहले नाम-रूप का बाध करोगे किन्तु अभ्यास के बाद नाम-रूप प्रतीत ही बाधित होंगे, सीधा ही ब्रह्म में पहुँचोगे—

**'अर्थेषु तद्योगविधौ तदुत्थे**
**दुःखे सुखे वा गलिताभिशंकम्।**
**अनाविशन्तो विनिमग्नचित्ता**
**जानन्ति वृत्तिक्षयसौख्यमन्तः' ॥**

तब डर नहीं रहता, कोई घबराहट नहीं होती। शुरू-शुरू में कुछ गड़बड़ होने का भय स्वाभाविक है। नया दर्ज़ी अंगुली पर लोहे की टोपी चढ़ा लेता है! बाद में उसे ऐसी सुरक्षा की आवश्यकता नहीं रहती। अनुभवी

दर्ज़ी को पता है कि सुई किस समय रुकनी चाहिए। अभ्यास के पहले इन्द्रियों को, अन्तःकरण को रोक कर रखना पड़ता था क्योंकि शंका बनी रहती थी कि कहीं नाम-रूप में न फँसें, किन्तु अभ्यस्त का न फँसना स्वाभाविक हो जाता है, सावधानी क्योंकि उसमें इतनी जज़्ब हो चुकी है इसलिये वह स्वभाव से ही अप्रमादी होता है।

प्रमादी पदार्थों के नाम-रूप-कर्मों के सौन्दर्य से विचलित होकर अपनी संयम की स्थिति कायम नहीं रख पाता। हमें आकृष्ट देखकर मानो पदार्थ हमें सर्वथा अपनी ओर खींच लेते हैं! इसीसे हम सतही नाम-रूप की पर्त से आगे वास्तविक ब्रह्मस्वरूप तक पहुँच ही नहीं पाते। जा रहे हैं रास्ते पर, देखने लगते हैं चलचित्र का विज्ञापन। पहले तो अभिनेता ही बनावटी, फिर उसका खींचा गया चित्र ('नेगेटिव') बनावटी, फिर उसकी छाया पर्दे पर पड़ी तो तीसरी कोटि की बनावटी वस्तु, उसे चित्रकार ने देखा तो उसकी आँख में पड़ा चित्र चौथी बनावटी चीज़, उसने कपड़े पर वैसा आँका और फिर प्रचार के लिये उसे विभिन्न स्थानों पर छापकर चिपकाया गया—यों छठी कोटि की बनावटी चीज़ देखकर हम आकृष्ट हो जाते हैं। आकर्षण भी हल्का नहीं, इतना कि अनाप-शनाप पैसा खर्चते हैं, धक्के खाते हैं, कदाचित् जान भी खतरे में पड़ती है, कभी बदमाश इज़्ज़त भी उतार लेते हैं! छठी कोटि की नकल देखकर नाम-रूप-कर्म में फँसना यह अज्ञानी का स्वभाव बना हुआ है। रसगुल्ला मुख में पहुँच गया, भोगकाल आरम्भ हुआ तो अपने आपको भूल जाते हैं, ब्रह्मचिन्तन की जगह स्वादचिन्तन करने लगते हैं। भोग से या तो सुख उत्पन्न होगा या दुःख। मारवाड़ी के घर का मिर्च का साग खाते हुए दुःखकाल में और रसगुल्ला मिल गया तो सुखकाल में, दोनों में अज्ञानी अपने को भूलता है।

किन्तु समझदार को पता है कि अन्तःकरण की वृत्तियाँ *क्षय* होकर सुख देती हैं। पेट भरने के आनन्द के लिये भोजन करते हो। स्वाद भी तब आयेगा जब भूख हो। भोजन करके उठ गये, कोई प्रेमी आकर कहता है 'अरे! मैं बहुत अच्छी चीज़ लाया हूँ, खा लो'। प्रेमवश खाते हैं। वह पूछता है 'कैसी है?' 'जहर जैसी है' यह कैसे कहें! 'तुम लाये हो तो खराब कैसे हो सकती है'? यों कहकर टालना पड़ता है। कारण क्या? बिना भूख के

स्वाद नहीं आता। स्वाद का क्षुधा से सम्बन्ध है। पेट भरने तथा भूख मिटाने को खाया जाता है। लेकिन लोग शिकायत करते हैं 'तबियत खराब है, भूख नहीं लगती'। भूख तो एक दुःख है, खुश हुआ करो कि भूख नामक दुःख से बचे! किन्तु हृदय में क्या है? 'भूख नहीं लगने से खाने का आनन्द नहीं आ रहा है'; इसलिये दवाई लेकर भूख लगाते हो, दुःख को बुलाते हो। जब पेट में भूख की गर्मी सताने लगे तब भूख मिटाने का आनन्द आता है। तात्पर्य है कि वृत्ति के क्षय में सुख है।

वृत्ति का क्षय कब होगा?जब पहले वृत्ति बनाओगे इसलिये आत्मज्ञानी वृत्तिहीन अवस्था होने पर फिर जानबूझ कर अज्ञान की वृत्ति बनायेगा भी और फिर उसके नाश में मौज लेगा! ब्रह्म ने सृष्टि बना कर, ज्ञान के द्वारा उसके बाध करने को सृष्टि बनाई। तुम वृत्ति बना तो लेते हो, लीन करना नहीं जानते; लड़के पैदा करना सीख गये हो, विदा करना नहीं सीखा। धन कमाना सीख गये, उसे भी विदा करना नहीं सीखा। वृत्ति बनाकर उपसंहार न कर सकना दरिद्रता है। कोई भूख तो उपजा ले, उसे मिटाने को रोटी कमाना न जाने तो जैसे दुःखी रहेगा वैसा अविचारशील का हाल है। विद्वान् के लिये इसका सीधा उपाय है कि सिवाय शिवपूजा के वह दूसरा कोई काम नहीं करता। शिवपूजामय महान् उत्सव उसे रस से सराबौर रखता है। 'उत्सव' में उत् मायने ब्रह्म, सव मायने प्रसव या उत्पन्न करना। ब्रह्म का सव ही उत्सव है। सारी सृष्टि उत्सव है, महान् आनन्द की वस्तु है। किन्तु हम उत्सव में धक्का देकर खाने लगे! निश्चित पता है कि, उत्सव के दिन आनन्द ही आनन्द है, चाहे चार बजें पर खाने को ज़रूर मिलेगा। पर धक्का-मुक्का करते हो कि यदि न मिला तो! सृष्टि के आदि काल से आज तक इच्छायें पूरी होती ही आई हैं, फिर भी चिन्ता करते हो कि 'न जाने यह इच्छा पूरी होगी या नहीं'! यहाँ छत्तीस तत्त्व उत्पन्न होकर उल्लास के लिये हैं, क्षोभ के लिये नहीं। खा कर मौज करने को उत्सव में लड्डू बनाये, आप उन्हीं के लिये एक-दूसरे के हाथ-पैर तोड़ते हो! जानते हो कि जितने आदमी आते हैं, कथा के बाद सबको तुलसी मिलती है, पर पैर पर पैर रखते हो, धक्का मारते हो! ज़्यादा से ज़्यादा पाँच मिनट अधिक लगते हैं, लेकिन अविचार ऐसी ही प्रवृत्ति कराता है।

किन्तु शिवात्मवेत्ता तो स्वयं शिव है! उसके प्रति कौन-से फल का विधान करें? उसकी शिव की-सी समाधि है जिसमें संसार सामने आकर निकल जाए, कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसकी समाधि स्वयं फलस्वरूप है, समाधि से आगे कुछ नहीं मिलना, जबकि दूसरों को धारणा-ध्यान से शिव की प्राप्ति होगी। यह समाधि उनकी है जो स्वयं समाधि के फल हैं! दृढ आत्मज्ञानी की यह स्थिति है। स्वयं ही फलस्वरूप होने से वे शुद्ध हैं। बाकी पदार्थ स्वभावतः अशुद्ध हैं। पदार्थों में काल्पनिक शुद्धि ही हो पाती है। शिव से भिन्न दूसरी वस्तु समझना ही वास्तव में अशुद्धि है।

**'शिव प्रीतिकराणि स्युः कर्माणि विविधानि च।**
**शिवज्ञानैकनिष्ठानां सेवा चैका विशिष्यते' ॥**

इसीलिये जो केवल शिवज्ञान में निष्ठा वाले हैं उनकी सेवा की विशेषता है, वहाँ शिव का साक्षात् स्पर्श है। शास्त्रों ने उन्हें प्रतीक नहीं माना क्योंकि वे स्वयं शिवस्वरूप हैं।

एक शराब बेचने वाली कुम्हार की स्त्री थी। शास्त्र में शराब को सूँघने तक का निषेध है किन्तु वह तो बेचती भी थी। सत् दृष्टि आना वास्तव में कठिन काम है! आजकल कहते हैं कि 'थोड़ा पियो तो शराब में कोई दोष नहीं'। कोई कहता है 'यह फलों का रस है'। काम-अर्थ के प्रति राग सारे पापों का मूल है। नरक के तीन दरवाज़े याद रखो—

**'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।**
**कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्' ॥**

किन्तु हम सामान्यतः काम, क्रोध, लोभ तो डट के करेंगे किन्तु 'बैंगन न खाओ, गोभी न खाओ' का विचार करते रहेंगे! भगवान् ने 'टमाटर, बैंगन छोड़ो' नहीं कहा, 'काम, क्रोध, लोभ—ये तीन छोड़ो' कहा है। अर्थ, काम दोनों अकेले रहें तो भी नरक ले जाते हैं। धर्म से शुरू होकर यदि अर्थ, काम का मोक्ष में पर्यवसान हो तो ठीक है। शराब बेचने से महाधनवती हो गयी अतः अनेक अकृत्य किये। **'महाधनवती भूत्वा चकार परिमोहिता'**। धन की प्राप्ति भगवान् की बड़ी दया नहीं है क्योंकि सद्बुद्धि के बगैर महान् श्री भी अनर्थप्रद होती है। धन मिलता है किससे?

'नाछित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव लभन्ते महतीं श्रीयम्' ॥

मुनीम की घरवाली बीमार है तो क्या सेठ उसे छुट्टी देकर दुकान का काम रुकने देगा? लेकिन सेठ की सेठानी को बुखार हो तो क्या वह दुकान आना भी ज़रूरी मानेगा? जैसे मछलीमार अनेकों को मार कर अपना पेट भरता है, वैसे क्रूरतापूर्वक अनेक कुकर्म करके अधिक धन मिलता है।

किसी प्राचीन संस्कार से उसे तीर्थयात्रा की इच्छा हुई। दाक्षिणात्य थी। दक्षिण कैलास के निकट चिदम्बर में उसे शिवयोगी दीखा। उससे कुम्हारी ने पूछा 'मेरे पास धन-ऐश्वर्य पर्याप्त है किन्तु हृदय में उदासी रहती है'। उन्होंने कहा 'परम शान्ति का विकास बाह्य साधनों से निरपेक्ष है। शान्ति-हेतु की जिज्ञासा का यही कारण है। क्योंकि हमें ज्ञात सब उपाय शान्ति नहीं दे पाते इसीलिये प्रश्न होता है कि शान्ति, आनन्द का स्रोत क्या? यह जिज्ञासा ही समाधान-प्राप्ति का स्रोत है। जिसे यह निश्चय है कि धन, रूप, पदार्थ शान्ति के स्रोत हैं वह परमात्मा को कभी नहीं पा सकता। जिसे निश्चय पता है कि दुकान चले तो सुख होगा, जिसे निश्चय है कि संसार के पदार्थों से शान्ति, आनन्द मिलेगा, वह शिव नहीं पा सकता क्योंकि जिज्ञासा ही नहीं है। यह महापापी थी फिर भी शिवयोगी के दर्शन से उसे जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। किसी राजा को भी उसने इस शान्ति-आनन्द में नहीं देखा जिसमें वह योगी स्थित मिल रहा था। उसको जिज्ञासा हुई कि इसमें इतनी शान्ति कहाँ से आयी? वह उनकी सेवा करने लगी। उन्हें अपने घर ले आई। निरन्तर देखने लगी कि उनमें आनन्द कितना गहरा है। लम्बे समय निकट से व्यवहार करने से उसे निश्चय हो गया कि वे अवश्य परमार्थनिष्ठ हैं। उनकी सेवा में लगे रहने से पुण्य उदय भी हुआ जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ। जिज्ञासा तीव्रतर होने लगी। उसमें निश्चय था ही कि योगी में शान्ति पूर्ण है। उसकी चित्तवृत्ति एकाग्र होने लगी। उसने प्रश्न किया 'किस कारण आपकी वृत्ति बदलती नहीं? समग्र ऐश्वर्य प्राप्त करके भी अपनी वृत्ति पूर्ण वैराग्य वाली कैसे बनायी है?' विवेकी भोगकाल में भी भोग में निमग्न नहीं होता। उसे स्पष्ट भासता रहता है कि इसमें जैसा मैं सोचता था वैसा सुख

नहीं आ रहा है'। मक्खी छहों पैर बचा कर शहद खाती है! जो मक्खी शहद में पैर फँसा दे, वह मर जाती है! इसी प्रकार विवेकी नष्ट नहीं होता क्योंकि विवेक-वैराग्य की सावधानी कायम रखता है, विषय से आकृष्ट नहीं होता। महात्मा सेवा से प्रसन्न हो गये ही थे, उन्होंने कैवल्यप्रद आत्मज्ञान का उसे उपदेश दिया। श्रद्धा एवं जिज्ञासायुक्त एकाग्रता से पूर्ण होने से उसने झट ग्रहण भी कर लिया। वृत्ति एकाग्र थी ही, तुरन्त स्थित भी हो गई।

शिवसेवा अर्थात् प्रत्येक अनुभव में शिवस्वरूप-पर्यन्त देखने में आत्मकल्याण की असीम क्षमता है जो श्रद्धा व एकाग्रता से प्रकट हो पाती है। यह जविष्ठता, तेज़ी जितनी ज़्यादा होगी उतना मन शिवसंकल्प वाला बनता जायेगा। इस प्रकार इस सूक्त में साधना के विकास-पर्यन्त क्रम का स्पष्ट वर्णन उपलब्ध है।

●


शिवम्
सत्यम्
सुन्दरम्